

मुंबई विद्यापीठ



हिंदी संभाषण

मुंबई विश्वविद्यालय मुक्त प्रवेश पीयर रिव्यूड मासिक शोध-पत्रिका



प्रवेशांक

मैं कहता आँखिन देखी

कोरोना काल में कबीर

वर्ष १/अंक १/

जून २०२०



में कहता आँखिन देखी

हिंदी संभाषण

मुंबई विश्वविद्यालय मुक्त प्रवेश
पीयर रिव्यूड मासिक शोध-पत्रिका

कथासम्राट मुंशी प्रेमचंद की
१४०वीं जयंती के अवसर पर
३१ जुलाई २०२० को अधिष्ठाता,
मानविकी, मुंबई विश्वविद्यालय द्वारा
प्रस्तुत।

श्रद्धांजलि



डॉ. अजय देशमुख

कुलसचिव, मुंबई विश्वविद्यालय

मुंबई विश्वविद्यालय के संकटमोचक डॉ. अजय देशमुख

- प्रोफेसर डॉ. सुहास पेडणेकर
कुलपति, मुंबई विश्वविद्यालय



मैं कहता आँखिन देखी

डॉ. अजय देशमुख जी से मेरा संबंध उनके कुलसचिव का पदभार सँभालने के पश्चात से मात्र १७ महीनों का ही रहा और विधाता की इच्छा कि यह संबंध इतना ही रहा। भले ही संत गाडगे महाराज अमरावती विश्वविद्यालय उनकी कर्मभूमि रही हो फिर भी मुंबई विश्वविद्यालय का कार्यभार सँभालते ही वे इसी विश्वविद्यालय के प्रति समर्पित हो गए। मात्र डेढ़ वर्षों की अल्पअवधि में ही उन्होंने अपनी कार्यक्षमता और व्यक्तिगत स्नेह के बल पर सबको अपना बना दिया। काम कितना भी कठिन क्यों न हो मेरी तमाम आकांक्षाओं का निरसन करते हुए उनका आत्मविश्वास भरा उत्तर होता — “काम हो जाएगा”। अपने कार्यालयीन दायित्वों को संपूर्ण प्रशासनिक कुशलता से निभाने की उनकी विशेषता सराहनीय रही है। मूलतः साहित्य के विद्यार्थी होने के नाते कार्यालयीन पत्र व्यवहार की भाषा चाहे अंग्रेजी हो या मराठी, कम से कम शब्दों में वेहद सटीक ढंग से अपनी बात रखने में वे सिद्धहस्त थे।

डॉ. अजय देशमुख अधिकांशतः विश्वविद्यालय के लिए संकटमोचक ही सिद्ध हुए। राजभवन में पुस्तक लोकार्पण के एक समारोह में माननीय वक्ताओं ने अंग्रेजी, मराठी और हिंदी में अपने मनोभावों को व्यक्त किया। माननीय कुलाधिपति महोदय ने अपने संक्षिप्त वक्तव्य में सभी भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत को भूलते जाने का खेद व्यक्त किया और वातावरण गंभीर हो गया। कार्यक्रम का संचालन कर रहे डॉ. अजय देशमुख मौके की नजाकत को देखते हुए अगले ही पल संस्कृत सुभाषितों के प्रयोग से संस्कृत में सूत्र संचालन करने लगे जिससे समस्त उपस्थित जन भावविभोर हो गए।

इन दिनों अपनी सेहत की बिल्कुल भी परवाह न करते हुए वे पूरी तरह विश्वविद्यालय के कार्यों के प्रति समर्पित रहे। उनकी निष्ठा, कर्तव्यपरायणता, सेवाभावना तथा विश्वविद्यालय को अपना समझते हुए उनका एकांतिक समर्पण सदैव विश्वविद्यालय के अधिकारियों और कर्मचारियों को प्रेरित करता रहा।

ऐसे योग्य, कार्यदक्ष, समर्थ व्यक्ति का अचानक हमारे बीच से चले जाना निश्चय ही हम सबके लिए अपूरणीय क्षति है। आज वे सदेह भले ही हमारे बीच नहीं हैं किंतु उनके आदर्श और जीवनमूल्य हमें सदैव प्रेरणा प्रदान करते रहेंगे। ईश्वर उनकी आत्मा को चिर शांति प्रदान करें।

HOMAGE

- **Prof. Ravindra Kulkarni**
Pro Vice Chancellor
University of Mumbai

I lost my friend Principal Ajay Deshmukh, Registrar of our University of Mumbai on 2nd July. It was a terrible shock that all of a sudden, he was diagnosed for cancer in the last month. He fought till his last breath, with a positive frame of mind, against cancer. Even in this stage, he was thinking only for the progress of the University.

He had great administrative capability and efficiency which he utilized for resolving many long pending issues of the University. His mastery of University Act both 2016 and 1994 was truly commendable. His in-depth knowledge of GRs, Acts, Ordinances, Regulations and Statutes permitted the University to maintain a critical and focussed approach in running regular administration and devising future projections. As a Secretary of Management Council, Academic Council and Senate, his calm, unperturbed and tolerant style of management of meetings was really remarkable. Even under tough and stormy circumstances, he was able to handle the situation with due care, patience and sensitivity. His constructive approach facilitated solving many complicated matters in amicable and legally acceptable manner.

His spiritual mindset, soft spoken nature and pleasant personality made him acceptable and friendly to people from diverse fields and backgrounds. I used to relish deliberating various topics with him. His mastery of Marathi, English, Hindi and Sanskrit was remarkable which made our discussions really enjoyable. Such a friendly person who was very energetic and enthusiastic has left for the heavenly abode very early. His untimely sad demise is a great loss to me as well as to the University. I extend my deepest condolences and pray to the Almighty to bless his soul with the ultimate peace. May god give strength to his family to bear this grief OM SHANTI!!!!



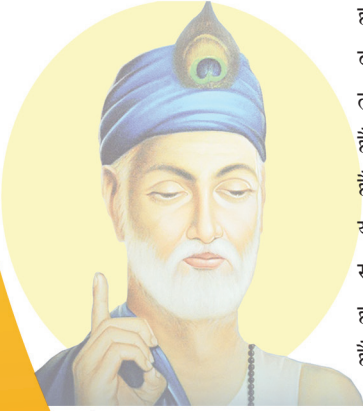
मैं कहता आँखिन देखी

एक अध्ययनशील व्यक्तित्व डॉ. अजय देशमुख

● प्रोफेसर राजेश खरात

अधिष्ठाता, मानविकी संकाय

उर्जावान, हँसमुख और सभी से आनंददायक संवाद स्थापित करनेवाला स्नेह भरा व्यक्तित्व था, डॉ. अजय देशमुख का। मेरा कार्यालय उनके ठीक पड़ोस में होने की वजह से ज़्यादातर सुबह की चाय उनके साथ ही लेकर हम अपने कार्यालयीन कामों की शुरुआत करते। प्राधिकरणों की अनेक बैठकों में मैं उनके पास बैठता था वे मुझे अपने पास बिठा लेते। “अब वे वहाँ नहीं होंगे” यह कल्पना ही असह्य दुःख देनेवाली है। भले ही उनके साथ मेरा संबंध मात्र पाँच-छह महीनों का ही रहा है। किंतु उनकी कार्यशैली निश्चय ही सम्मोहनकारी थी। चाहे वरिष्ठ हो या कनिष्ठ कोई भी आहत न होने पाए इस कारण कई आघात उन्होंने खुद झेले हैं। आपात स्थितियों में उनकी दूरदेशी और समझदारी निश्चय ही अनेकों को आत्मपरीक्षण हेतु विवश कर देगी, इसमें दो राय नहीं हैं।



मैं कहता आँखिन देखी

अध्ययनशील प्रवृत्ति की वजह से ही डॉ. अजय देशमुख के पास किसी भी विषय पर संतोषजनक उत्तर सदैव हाजिर रहता। हाजिरजवाबी और हास्य उनका स्थायी गुण था। इन्हीं विशेषताओं के चलते वे अनेक प्रशासकीय समस्याओं का सहज समाधान कर पाते थे। प्रवृत्ति से अध्यापक होने के नाते उनका ध्यान सदैव अध्ययन पर रहता जो उनके आसपास के वातावरण को सहज बनाए रखता। नई अवधारणाओं और साहित्य चर्चा में वे गहन दिलचस्पी लेते। अकादमिक औपचारिकताओं की पूर्ति के पश्चात उन्होंने वाकायदा अंग्रेजी भाषा और साहित्य के शोधनिर्देशक पद की मान्यता भी अर्जित की थी। शोधार्थियों को किस विषय पर वे मार्गदर्शन करेंगे इसकी फेहरिस्त उनके पास होती। कुलसचिव पद के दायित्वों का सफल निर्वहन करते हुए शोधार्थियों को अकादमिक स्तर पर समृद्ध करने की उनकी दूरदृष्टि निश्चय ही प्राध्यापकों के लिए प्रेरणादायी साबित होगी। उनकी अध्ययनशीलता, कर्तव्यपरायणता और निष्ठा से विद्यार्थी, प्राध्यापक और कर्मचारी बंधु प्रेरणा ले जो यही उनके लिए सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

ईश्वर उनकी आत्मा को अनंत शांति प्रदान करें।



“एक आदर्श समाज में अनेक अभिरुचियाँ सचेतन स्तर पर संप्रेषित और साझा की जाती हैं...दूसरे शब्दों में ‘*सोशल एन्डोस्मोसिस’ अत्यावश्यक है।”

भारतरत्न डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर

(*सामाजिक अंतराभिसरण)



मैं कहता आँखिन देखी

संपादन मंडल



मैं कहता आँखिन देखी

मानद संपादक
प्रोफेसर राजेश खरात
अधिष्ठाता

मानविकी संकाय
मुंबई विश्वविद्यालय
संपादक

प्रोफेसर हूबनाथ पांडेय
हिंदी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

रिव्यू संपादक
डॉ. मुद्दज़्ज़ा काज़ी दलवी
अध्यक्ष, उर्दू विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

सह संपादक
डॉ. भाग्यश्री वर्मा
सहयोगी प्राध्यापक
अंग्रेज़ी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

डॉ. अभय दोषी
सहयोगी प्राध्यापक
गुजराती विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

डॉ. श्यामसुंदर पांडेय
विजिटिंग प्रोफेसर
हिंदी विभाग
तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ़ फॉरेन
स्टडीज़
तोक्यो, जापान

सहयोगी प्राध्यापक
हिंदी विभाग
विडला महाविद्यालय
कल्याण, महाराष्ट्र

डॉ. अनिल ढवले
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
जोशी वेडेकर महाविद्यालय
ठाणे, महाराष्ट्र

सलाहकार संपादक
प्रोफेसर रतनकुमार पांडेय
पूर्व अध्यक्ष
हिंदी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

प्रकाशन सहयोग

पृष्ठ संयोजन
श्री शकील अहमद
वरिष्ठ अनुवादक एवं
तकनीकी भाषाविद
श्री सत्यवान राणे
श्री राजेश कुमार यादव
टंकण एवं मुद्रण
विद्यापीठ प्रकाशन, मुंबई

पूफ पठन
कु. सायली पवार
शोधार्थी
हिंदी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

कु. पुष्पा चौधरी
शोधार्थी
हिंदी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

प्रकाशक
अधिष्ठाता, मानविकी संकाय
मुंबई विश्वविद्यालय

हिंदी संभाषण

मुंबई विश्वविद्यालय की मुक्त प्रवेश पीयर रिव्यूड
मासिक शोध-पत्रिका

जून २०२० में कबीर जयंती के शुभअवसर पर आयोजित वेिनार के दौरान अधिष्ठाता मानविकी संकाय, मुंबई विश्वविद्यालय ने यह तै किया कि जिस प्रकार भारतरत्न डॉ. बाबासाहब आंबेडकर की १२६वीं जयंती के उपलक्ष्य में १ मई २०२० को अंग्रेज़ी एवं मराठी में एक द्विभाषीय शोध पत्रिका संभाषण की शुरुआत हुई, उसी तर्ज पर कबीर जयंती से स्वतंत्र रूप से हिंदी संभाषण की शुरुआत भी की जाए तो राजभाषा हिंदी में एक अंतर्विद्याशाखीय विमर्श पटल का निर्माण किया जा सकता है। प्रस्तुत अंक इसी सदिच्छा का प्रतिफल है। यह प्रवेशांक हिंदी एवं अंग्रेज़ी में द्विभाषीय रूप में प्रकाशित हो रहा है किंतु आगामी सभी अंक सिर्फ हिंदी में होंगे। विभिन्न ज्ञानशाखाओं में हो रहे विमर्शों एवं चिंतन को हिंदी जगत से परिचित कराना तथा हिंदी में विभिन्न विषयों पर मौलिक चिंतन को प्रोत्साहित करने हेतु हिंदी संभाषण का प्रकाशन किया जा रहा है।

हिंदी साहित्य में कबीर पहले ऐसे चिंतक कवि हैं जो समाज के बिल्कुल निचले तबके से जुड़कर उसके लिए आध्यामिक ज्ञान के दरवाज़े खोलने का युगांतरकारी कार्य करते हैं तथा तमाम परंपरागत ज्ञान पर बहस का खुला आमंत्रण देते हैं। उसी मुक्त मन और सात्विक विचार के तहत सार्थक बहस की शुरुआत है-हिंदी संभाषण।



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

॥ सादर समर्पित ॥

दुनिया के अब तक के सबसे संकटग्रस्त समय में वैश्विक महामारी के दौरान पूरे साहस, धैर्य और सामर्थ्य के साथ मानवजाति की रक्षा में जो डॉक्टर, नर्स, स्वास्थ्यकर्मी, सुरक्षा कर्मी, पुलिस, सफाईकर्मी, स्वयंसेवक अपनी जान की परवाह किए बिना अपने कर्तव्यपथ पर न सिर्फ अडिग रहे बल्कि शहीद भी हुए। मुंबई विश्वविद्यालय ने भी इस वैश्विक आपदा में अपनों को खोया है। इन सभी की पावन स्मृतियों को सादर नमन करते हुए हिंदी संभाषण का यह अंक समर्पित!

स्मृतिशेष -

- डॉ. अजय देशमुख, कुलसचिव
- श्री सुधाकर गोसावी, उप कुलसचिव, परीक्षा विभाग
- श्री अशोक वागुल, संलग्नता अनुभाग
- श्री पंढरीनाथ धुरी, फोर्ट, ग्रंथालय
- सुश्री वनिता तांबे, पूर्व स्नातक अनुभाग
- श्री राजेंद्र घेगडमाल, नियुक्ति इकाई, परीक्षा भवन

Framework

- ◆ This journal is open to contributions from established academics, young teachers, research students and writers from diverse institutional and geographical locations.
- ◆ Papers can be empirical, analytical or hermeneutic following the scholarly culture of critique and creativity, while adhering to academic norms.
- ◆ Commentaries and reviews can also be submitted.
- ◆ Submissions will be peer-reviewed anonymously.
- ◆ Some of the issues will publish invited papers and reviews, though there will be a call for papers for most issues.
- ◆ There would be an occasional thematic focus.



मैं कहता आँखिन देखी

Guidelines for Submission

- ◆ Original, scholarly, creative and critical papers with adequate references.
- ◆ All references to the author should be removed from the submission to enable the anonymous review process.
- ◆ There can be a limit of approximately 3500-4000 words (for papers) and 1500-2000 words (for commentaries) and 1000-1200 words (for reviews).



मैं कहता आँखिन देखी

- ◆ Essays should follow the Times New Roman font in size 12 with doublespace.
- ◆ Hindi contributions should be typed in Devnagari Unicode font (Akruti fonts preferable).
- ◆ All contributions should follow the author-date referencing system detailed in chapter 15 of The Chicago Manual of Style (17th Edition). The style guidelines in this journal can be consulted for quick reference.
- ◆ Authors should submit a statement that their contribution is original without any plagiarism. They can also, in addition, submit a plagiarism check certificate.
- ◆ The publication of research papers, commentaries and book reviews is subject to timely positive feedback from anonymous referees

Publisher

Office of the Dean of Humanities, University of Mumbai, Ambedkar Bhavan, Kalina Campus, Vidyanagari, Mumbai-400098.

This journal accepts original essays that critically address contemporary issues related to social sciences, humanities and law from an interdisciplinary perspective.



मुंबई विद्यापीठ

प्रोफेसर युहास पेडणेकर
कुलगुरु

महात्मा गांधी रोड, फोर्ट, मुंबई ४०००३२, महाराष्ट्र, भारत.
दूरध्वनी: +९१२२ २२६५ ०४०३, २२६५ ६७८९ • फॅक्स: +९१२२ २२६७ ३५७९
ई-मेल: vice-chancellor@mu.ac.in • वेबसाईट: http://www.mu.ac.in

संदेश

अधिष्ठाता, मानविकी संकाय के स्तुत्य प्रयासों से मुंबई विश्वविद्यालय के अकादमिक जगत ने इस महाराष्ट्र दिवस के शुभ अवसर पर भारत रत्न डॉ. बाबासाहब आंबेडकर की 129 वीं जयंती के उपलक्ष्य में आंतरविद्याशाखीय द्विभाषीय (अंग्रेज़ी-मराठी) मुक्त अभिगम मासिक शोध पत्रिका 'संभाषण' के साथ एक नए पर्व में प्रवेश किया। इसकी अगली कड़ी के रूप में 'हिंदी संभाषण' का प्रकाशन दोहरे हर्ष का विषय है। राजभाषा हिंदी के माध्यम से भारतवर्ष के उत्तरी और दक्षिणी छोर को विचार तथा चिंतन के स्तर पर एक बौद्धिक धरातल उपलब्ध कराने के साथ ही भारतीय भाषाओं की समृद्ध साहित्यिक परंपरा और संस्कृति को एक सूत्र में पिरोकर भारतीयता की अवधारणा को सशक्त बनाने का गुरुतर दायित्व भी 'हिंदी संभाषण' के माध्यम से निभाया जा सकता है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है और मेरी अपेक्षा भी।

भाषा का विकास और विस्तार सिर्फ साहित्य के माध्यम से होना मुश्किल है। जब तक जीवन जगत के सभी क्षेत्रों, सभी विषयों पर सार्थक और मौलिक चिंतन किसी भाषा में समुचित मात्रा में न हो तब तक वह भाषा जीवन को समृद्ध कर पाने में समर्थ नहीं हो पाती। इक्कीसवीं सदी में जबकि सूचना क्रांति के फलस्वरूप विश्व एक ग्राम में परिणत होता जा रहा है, ऐसे में दुनियाभर की भाषाओं के वर्तमान साहित्य ही नहीं बल्कि जीवन की गुणवत्ता में अभिवृद्धि करनेवाली तमाम जानकारियों एवं ज्ञान को प्रस्तुत करने की नितांत आवश्यकता है। जिसकी पूर्ति इस तरह के प्रयासों से संभव हो सकती है।

इस संदर्भ में अद्भुत संयोग यह रहा कि 'संभाषण' का प्रवेशांक भारत रत्न बाबासाहब आंबेडकर का वैचारिक दाय लेकर प्रस्तुत हुआ और उसकी अगली कड़ी 'हिंदी संभाषण' का शुभारंभ हुआ, बाबासाहब के एक गुरु संत कबीर के विचार एवं जीवन दर्शन को केंद्र में रखते हुए। एक और सुखद संयोग यह रहा कि संत कबीर भक्ति की जिस परंपरा के प्रवर्तक रहे उसे दक्षिण से आचार्य रामानंद उत्तर ले गए। कबीर की वैचारिक समृद्धि में एक ओर बौद्ध, नाथ, सूफी संतों का हाथ रहा तो संत नामदेव का भी महनीय योगदान रहा जो महाराष्ट्र से उत्तर की ओर गए थे। इस तरह संत कबीर दक्षिण-उत्तर की साड़ी विचारभूमि पर अवस्थित हैं।

संत कबीर की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि वे प्रश्न करने पर ज़ोर देते थे, स्थापित मान्यताओं को चुनौती देते थे तथा ज्ञान को सर्वजनसुलभ बनाने का महत्वपूर्ण प्रयास करते रहे। निर्भयता और अशेष आस्था के कवि कबीर ने अपनी रचनाओं में स्वतंत्रता, समानता और बंधुता के सिद्धांतों को सहज भाषा में अभिव्यक्त किया है। ऐसे संत शिरोमणि पर केंद्रित हिंदी संभाषण का प्रवेशांक बौद्धिक चिंतन और वैचारिक आदान-प्रदान के उत्कृष्ट माध्यम के रूप में अकादमिक चिंतन को ठोस आधार प्रदान करेगा।

अधिष्ठाता, मानविकी संकाय एवं 'हिंदी संभाषण' के संपादन मंडल, सहयोगियों तथा परामर्शदाताओं को मंगलकामनाएं!

प्रो. युहास पेडणेकर
कुलपति
मुंबई विश्वविद्यालय



मुंबई विद्यापीठ



प्रा. रवींद्र द. कुलकर्णी
एम.टे.क., पीएच.डी.
प्र-कुलगुरु

शुभाशंसा

किसी भी अकादमिक क्षेत्र की पहचान उसके अंतर्गत होनेवाले शोधकार्य और शोध की गुणवत्ता से होती है। विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा का महत्वपूर्ण केंद्र होता है जहां उच्च शिक्षित समुदाय अपनी बौद्धिक प्रतिबद्धताओं के माध्यम से समाज, राष्ट्र और ज्ञान निर्माण में अपना योगदान करता है। मुंबई विश्वविद्यालय के लिए यह हर्ष का विषय है कि मात्र तीन महीने के भीतर दो महत्वपूर्ण मासिक शोध पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही हैं।

वाद, विवाद, संवाद की भारतीय परंपरा के अंतर्गत संभाषण के महत्व और ज्ञानशाखाओं के विकास में उसके योगदान को स्वीकारते हुए शोधपरक चिंतन की सार्थक अभिव्यक्ति को आधार प्रदान करते हुए अधिष्ठाता, मानविकी संकाय के सफल मार्गदर्शन में पहले आंतरविद्याशाखीय द्विभाषीय संभाषण तथा अत्यल्प अवधि में हिंदी संभाषण का प्रकाशन स्वागत योग्य है।

प्रत्येक ज्ञानशाखा बड़ी सूक्ष्मता से इतर ज्ञानशाखाओं से गहरे संबद्ध होती ही है और परस्पर एक दूसरे को समृद्ध भी करती है, विशेष तौर पर मानविकी और सामाजिक विज्ञान परस्पर अन्योन्याश्रित विद्याएं हैं। किसी भी विद्याशाखा की उपेक्षा, अभाव या अज्ञान ज्ञान की विशिष्ट शाखा को प्रभावित करती है। हिंदी संभाषण के माध्यम से साहित्य, समाज, संस्कृति, भाषा, परंपरा आदि के शोधपरक अध्ययन का अवसर न सिर्फ प्राध्यापकों बल्कि शोधार्थियों व विद्यार्थियों को भी समान रूप से प्राप्त होगा तथा ज्ञानशाखाओं की अभिवृद्धि के ज़रिए विश्वविद्यालय को भी एक पहचान मिलेगी।

हर्ष का विषय है कि शोध पत्रिका का शुभारंभ संत कबीर सरीखे महापुरुष को केंद्र में रखकर हो रहा है। संत कबीर के भीतर भी शोध की गहन प्रवृत्ति थी। वे कागज़ पर लिखे के बजाय अखिन देखी अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण पर विश्वास करते थे। अपनी रचनाओं में वे निरंतर संवाद या सवाल की मुद्रा में नज़र आते हैं जो कि वैज्ञानिक चिंतन का आधार है। किसी अवधारणा को ठीक उसी रूप में न स्वीकारते हुए उसे अपने अनुभवों की आंघ पर तपाकर, उसके तमाम कलुष को जलाकर, उसके सत् स्वरूप को पहचानना और जन सामान्य तक उसे पहुंचाना, किसी वैज्ञानिक सोच के व्यक्ति का ही कार्य है जिसका संत कबीर ने आजीवन निर्वहन किया। शोध का मूल होता है- सत्य की खोज। वैज्ञानिक अपनी तरह से सत्य की तलाश करता है, दार्शनिक अपनी तरह से और कवि अपनी तरह से। ऐसे महत्वपूर्ण सत्यशोधक रचनाकार और चिंतक से आरंभ होनेवाले हिंदी संभाषण की शोधयात्रा सफलता की राह पर अग्रसर होती रहे और इसे संभव बनानेवाले अधिष्ठाता, मानविकी संकाय तथा संपादन मंडल के सारथियों को हार्दिक शुभकामनाएं।

प्रो. रवींद्र कुलकर्णी
प्रति कुलपति
मुंबई विश्वविद्यालय

महात्मा गांधी मार्ग, फोर्ट परीसर, मुंबई ४०० ०३२. दुरध्वनी: ९१-२२-२२६५००६२.

डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर भवन, विद्यानगरी, सांताक्रुझ, मुंबई ४०० ०९८. दुरध्वनी: ९१-२२-२६५३०९८७

ईमेल: pvc@fort.mu.ac.in / kulkarnird67@gmail.com वेबसाइट: www.mu.ac.in

संपादकीय

कहा जाता है कि धैर्यवान के धीरज की सही परीक्षा संकट के समय होती है। अकादमिक शिक्षा का सर्वोत्तम संस्थान और भारत के आरंभिक तीन विश्वविद्यालयों में से एक मुंबई विश्वविद्यालय ने वैश्विक महामारी के विराट संकट के समक्ष जिस धैर्य, कर्तव्यपरायणता और गहन निष्ठा का परिचय दिया वह अपनी मिसाल आप है। राष्ट्रव्यापी तालाबंदी के दौरान भारतरत्न बाबासाहब आंबेडकर की जयंती के उपलक्ष्य में महाराष्ट्र दिन के शुभ अवसर पर बौद्धिक बहस तथा सृजनात्मक चिंतन के लिए महाराष्ट्र की मेधावी विरासत के अनुरूप संभाषण के रूप में द्विभाषिक मासिक शोधपत्रिका का प्रकाशन किया गया। अधिष्ठाता, मानविकी संकाय के समर्थ मार्गदर्शन में मात्र तीन माह में संभाषण ने शोध एवं शिक्षा जगत में अपनी जगह बना ली है। इसी की अगली कड़ी के रूप में 'हिंदी संभाषण' प्रस्तुत है। विश्वविद्यालय की पहचान उसके बौद्धिक सामर्थ्य, शोध दृष्टि तथा शिक्षा जगत को उसके अवदान से होती है। विद्यार्थियों, शोधार्थियों एवं प्राध्यापकों के लिए एक ऐसे मंच की आवश्यकता वरसों से महसूस की जा रही थी जहाँ वे अपने चिंतन को आकार दे सकें। इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु 'संभाषण' संभव हुआ। हिंदी, विश्व की एक प्रमुख भाषा है क्योंकि इसके बोलनेवालों की तादाद बहुत ज़्यादा है। यह विश्व के कई देशों में बोली जाती है, पढ़ी जाती है, पढ़ाई जाती है। हिंदी के माध्यम से वैश्विक अकादमिक स्तर पर भाषा, साहित्य, समाजशास्त्रीय चिंतन ही नहीं बल्कि ज्ञान विज्ञान की अन्य विद्याशाखाओं में होनेवाले शोधकार्यों से परिचित कराते हुए अपने शोधार्थियों के बौद्धिक क्षितिज को विस्तार देने के उत्तरदायित्व के साथ हिंदी संभाषण की शुरुआत की गई है। मुंबई विश्वविद्यालय के माननीय



मैं कहता आँखिन देखी

कुलपति प्रोफेसर सुहास पेडणेकर तथा उप कुलपति प्रोफेसर रवींद्र कुलकर्णी की प्रेरणा तथा अधिष्ठाता, मानविकी संकाय के सार्थक मार्गदर्शन में हिंदी संभाषण का प्रवेशांक सायास कवीर पर केंद्रित है। कवीर बाबासाहब आंबेडकर के गुरु माने जाते हैं और महात्मा बुद्ध की परंपरा को जन सामान्य की भाषा में पूरी प्रखरता और तेजस्विता के साथ उन्होंने अभिव्यक्त किया है। कवीर अनंत धैर्य, अपार साहस, विलक्षण प्रतिभा और निर्भय ज्ञान के कवि हैं। जड़ परंपरा को चुनौती देते हुए अनुभवजन्य ज्ञान और असीम मानवीय संवेदना के प्रवक्ता कवीर कोरोना काल के संकटग्रस्त दौर में शाश्वत मूल्यों के जतन, घोर आत्मविश्वास और अखंड आस्था का संदेश देते हैं। वे जीवन ही नहीं मौत को भी चुनौती देते हुए घोषित करते हैं - हम न मरिहैं, मरिहै संसारा। हमको मिला जियावनहारा।।



मैं कहता आँखिन देखी

हमारी सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों, पाखंडों, आडंबरों पर प्रहार करनेवाला और समस्त मानवजाति से निःस्वार्थ प्रेम करनेवाला यह कवि आज भी हमें राह दिखाता है, सावधान करता है, जगाता है। कुछ इसी भूमिका में पूरी विनम्रता और सदाशयता के साथ हिंदी संभाषण का यह प्रवेशांक समर्पित है उन तमाम कोरोना योद्धाओं को जिनकी वजह से आज हम सुरक्षित हैं।

इस संकट काल में मुंबई विश्वविद्यालय पर भी दुखों का साया पड़ा। विश्वविद्यालय परिवार के कई सदस्यों को इस महामारी के कष्ट से गुजरना पड़ा। विश्वविद्यालय के माननीय कुलसचिव डॉ. अजय देशमुख सर का आकस्मिक निधन हम सबके लिए घोर पीड़ादायक रहा। ईश्वर उनकी आत्मा को चिर शांति और उनके कुटुंब को दुःख के इस भीषण वक्त में अपार धैर्य और सहनशक्ति प्रदान करें!

संपादन मंडल

अनुक्रमणिका

- ◆ **धरोहर**
कवीर का उपेक्षित साहित्य १८
— आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी
- ◆ **आलेख**
आनंदघन और कवीर २८
— श्री कुमारपाल देसाई
- ◆ कवीर: अवधारणाओं का पुनराविष्कार ३७
— प्रो. चित्तरंजन मिश्र
- ◆ कवीर-साहित्य: बाजारवाद ४८
— डॉ. रतनकुमार पांडेय
- ◆ **किताबनामा**
कविता, संगीत और आध्यात्म ५६
की त्रिवेणी — लालन शाह
— श्री शैलेश सिंह
- ◆ **Kabir: Text and Context** 61
— *Divya Jyoti*
- ◆ **Kabir and Ambedkar on Religious Traditions: Critiques and Reconstructions** 86
— *Dr. Amita Valmiki*
- ◆ **Kabir's Religion: Religion that Underlies All Religions** 100
— *Vasudev Manohar Athalye*
- ◆ **Treatment of Mysticism in Kabir's Poetry** 117
— *Dr. A.P.Pandey*



मैं कहता आँखिन देखी

कबीरपंथ का उपेक्षित साहित्य

- आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

“ पीछे लागा जाय था
लोक बेद के साथ।
आगे थे सतगुरु मिल्या
दीपक दीया हाथ।। ”



मैं कहता आँखिन देखी

क

बीर उत्तर-मध्ययुग के अत्यंत प्रभावशाली धर्मनेता थे। उनकी वेधक दृष्टि, उदात्त चिंतन, प्रेरक व्यक्तित्व और मता छोड़नेवाली शैली ने उन्हें मध्ययुग का सबसे बड़ा मस्तमौला धर्मगुरु बना दिया है। सारे भारतवर्ष में उन्हें सम्मानपूर्वक स्मरण किया जाता है। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सबकुछ को झाड़-फटकारकर चल देनेवाले तेज ने कबीर को हिंदी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में सब कुछ को छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य साधारण जीवन-रस भर दिया है। कबीरदास के इस गुण ने सैकड़ों वर्ष से उन्हें साधारण जनता का नेता और साथी बना दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्ति के पात्र ही नहीं प्रेम और विश्वास के आसपद भी बन गए हैं। सच पूछा जाए तो जनता कबीरदास पर श्रद्धा करने की अपेक्षा प्रेम अधिक करती है, इसलिए उनके संत-रूप के साथ ही उनका कवि-रूप बराबर चलता रहता है।

वे केवल नेता और गुरु नहीं हैं, साथी और मित्र भी हैं।

नये सिरे से जिन लोगों ने उनकी वाणियों का अध्ययन आरंभ किया है, वे प्रायः साहित्यिक रुचि के लोग हैं और उनके सामने सबसे बड़ी समस्या उनकी प्रामाणिक रचनाओं की खोज है। अत्यंत प्रभावशाली धर्मनेता होने के कारण उनके नाम पर बाद में भी रचनाएँ होती रही हैं और ऐसी रचनाओं की मात्रा बहुत अधिक है। स्वाभाविक ही है कि उनके संदेश और व्यक्तित्व की सही धारणा के लिए उनकी प्रामाणिक रचनाओं की खोज की जाए। परंतु ऐसा करने से बहुत-सी रचनाएँ, जिनका धर्म-साधना के इतिहास में महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है, उपेक्षित रह गई हैं। यह सिद्ध हो जाने पर भी कि अमुक-अमुक रचनाएँ परवर्ती हैं और इसीलिए कवीर की प्रामाणिक वाणियों में उनकी गिनती नहीं हो सकती, उनकी उपेक्षा हमारे सांस्कृतिक और धर्म-साधना-विषयक इतिहास की अनेक महत्वपूर्ण कड़ियों से वंचित कर सकती है। साहित्यिक दृष्टि से उनका उतना मूल्य नहीं हो सकता, पर मध्यकालीन धार्मिक आंदोलन का सही चित्र प्रस्तुत करने में उनका योगदान हो सकता है।

पिछले दो हजार वर्षों में अनेक नवीन जातियों का आगमन इस देश में हुआ है। अनेक पुरानी जातियों का (जिनमें बहुत-सी नवीन रूप में आर्य भाषा-भाषी बनी थीं और पहले सभी किरात, द्रविड़ या कोल जातीय भाषाएँ बोलती थी।) अभ्युत्थान हुआ है और अनेक प्रतिभा-संपन्न विचारकों का प्रादुर्भाव भी हुआ है। उनके आगमन से हमारी भाषाओं में, अभिव्यक्ति शैली में, उपासना-विधियों में महत्वपूर्ण बाह्य परिवर्तन हुए हैं। उन्हें भुलाया नहीं जा सकता। मूल जीवन दृष्टि को इन संप्रदायों ने नए-नए रूपों में सजाने का प्रयत्न किया है। हठयोग और कुंडलिनी योग पर अधिक जोर देने के कारण नवीन साधना-मार्गों का प्रवर्तन हुआ। उनके वेद-विरोधी वामपंथों के अभ्युदय से जीवन-दर्शन और आचार-परंपरा में आपात दृष्टि



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

से एकदम भिन्न और उल्लेखयोग्य परिवर्तन हुए हैं। पर सब मिलाकर ये मार्ग सर्व-भारतीय जीवन-दृष्टि में बहुत अधिक विकार नहीं ला सके हैं। कभी इस देश में, कभी उस प्रदेश में, एक-एक अंगों पर अधिक बल देने के कारण ऐसा लग सकता है कि बहुत-कुछ परिवर्तन हो गया है, पर विश्लेषण और विवेचन के ऊपरी आवरण का विमोचन होते ही मूल भारतीय जीवन-दर्शन स्पष्ट हो सकता है। वस्तुतः बंगाल में मध्यकाल में जो साहित्य लिखा गया और उन क्षेत्रों में जिन्हें हिंदी भाषा-भाषी कहा जाता है, परस्पर इतना साम्य है कि उनकी विशेषताओं का अध्ययन दोनों को एकसाथ पढ़े बिना हो ही नहीं सकता। मैंने बहुत पहले जोर देकर कहना चाहा था, कि हमारी भाषा का पुराना साहित्य प्रांतीय सीमाओं में बंधा नहीं है। आपको यदि हिंदी-साहित्य का अध्ययन करना है तो उसके पड़ोसी साहित्यों-बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, नेपाली आदि के पुराने साहित्य के बारे में जानना जरूरी है।

हमारे देश का सांस्कृतिक इतिहास इस मजबूरी के साथ अदृश्य काल-विधाता के हाथों सी दिया गया है कि उसे प्रांतीय सीमाओं में बाँधकर सोचा ही नहीं जा सकता। उसका एक टाँका काशी में मिल गया, तो दूसरा बंगाल में, तीसरा उड़ीसा में और चौथा महाराष्ट्र में मिलेगा। और यदि पाँचवाँ मलाबार या सीलोन में मिल जाय तो आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। 'जैन पुरातन-प्रबंध' में 'नील-पट' नामक दार्शनिकों की कहानी है। उसमें बताया गया है कि स्त्री-पुरुष के नग्न जोड़े एक नील वस्त्र में आवृत रहते थे और भोग-परक धर्म का उपदेश देते थे। राजा भोज ने उनका उच्छेद करा दिया था। बहुत दिनों तक इन नील-पटों के विषय में कुछ जाना नहीं जा सका। जैन-प्रबंध के लेखक ने इनका जो घृणित रूप खींचा है, उससे इनके वास्तविक रूप का विचार नहीं किया जा सकता। यदि हिंदू आचार्यों के विरोधी विचारों के आधार पर ही बौद्ध-मत का रूप देखने का प्रयत्न किया जाता तो वह

चित्र कितना विकृत होता। विरोधियों के मत से किसी के मत का वास्तविक रूप नहीं समझा जा सकता। हिंदी में चर्पटीनाथ का यह पद पाया जाता है:

एक श्वेत जटा एक पीत पटा।

एक तिलक जनेऊ लम्ब जटा।।

एक नील पटा मत अट्ट पटा।

भ्रम जाल जटा भव हट्ट अटा।।

यह पद मैंने तारन-तारन से प्रकाशित 'प्राण-साँकली' नामक ग्रंथ से उद्धृत किया है जो सिक्खों के एक संप्रदाय में गुरु नानक की वाणी के रूप में समादृत है। इस पद में नील-पटों को संसार के बाज़ार में भरमनेवाले, भ्रमजाल से जकड़े हुए, अटपटे मत को माननेवाले कहकर स्मरण किया गया है। इस प्रकार के एक नीलवस्त्रधारी संप्रदाय का पता पं. राहुल सांकृत्यायन ने सिंहल के 'निकाय-संग्रह' से उद्धृत किया है और उस विवरण से पता चलता है कि ये नीलपट वज्रप्रयानियों से या तो अभिन्न हैं या मिलते-जुलते हैं। सिंहल का विवरण न मिलता तो इसके बारे में हम अंधकार में ही रहते।

श्री क्षितिमोहन सेन ने गोरखनाथ और माया के संवाद-रूप में प्रचलित एक पद पूर्वी बंगाल में सुना था, उससे मिलता-जुलता पद राजस्थान में दादू के नाम से प्रचलित देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ था, पर वह पद 'गोरखवानी' में गोरखनाथ के नाम पर प्राप्त है और बिहार में जोगीड़ा के रूप में गाया जाता है। उदाहरण और भी बढ़ाये जा सकते हैं।

मुसलमानों के आने के पहले इस देश में कई ब्राह्मण-विरोधी संप्रदाय थे। बौद्ध और जैन तो प्रसिद्ध ही हैं। कापालिकों, लाकुल पाशुपतों, वामाचारियों आदि का बड़ा जोर था। नाथों और निरंजनियों की अत्यधिक प्रबलता थी। बाद में साहित्य में इन मतों का बहुत थोड़ा उल्लेख मिलता है। दक्षिण से भक्ति की जो प्रचंड आँधी आई, उसमें ये सब मत बह गए। पर क्या एकदम मिल गए? लोक-चित्त पर से



मैं कहता आँखिन देखी

क्या वे एकदम झड़ गए? हिंदी, बँगला, मराठी, उड़िया आदि साहित्यों के आरंभिक काल के अध्ययन से इनके बारे में बहुत कुछ जाना जा सकता है।

मध्यकालीन बँगला और हिंदी-साहित्य को परस्पर स्वतंत्र मानकर चलनेवाले विद्यार्थियों को कितने घाटे में रहना पड़ता है, यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी। परंतु यह उदाहरण केवल बँगला और हिंदी-साहित्यों के पारस्परिक संबंध और अंतरावलंबन का ही साक्षी नहीं है, यह स्पष्ट रूप से बताता है कि मध्यकाल में बने हुए समूचे भारतीय साहित्य को एक और अविच्छेद्य मानकर चलना ही उचित है।

मुसलमानी आक्रमण तीर-फलक की भाँति उत्तर भारत में तेजी से घुस गया था। इस अप्रत्याशित घटना से दसवीं शताब्दी के बाद का धार्मिक-सांस्कृतिक वातावरण एकदम विश्वुब्ध हो गया। यद्यपि इन दिनों ब्राह्मण धर्म का प्राधान्य पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका था, तथापि अनेक वेद और ब्राह्मणविरोधी साधनाएँ उन दिनों वर्तमान थीं। नाथों और निरंजनों का मत उन दिनों काफी प्रबल था। इस तीर-फलक के चारों ओर ये साधनाएँ छितरा गईं। कुछ के समय लिए ये एकदम विच्छिन्न हो गईं और नाना स्थानों में अपने इर्द-गिर्द के वातावरण के अनुकूल होकर प्रकट हुईं। राजस्थान में इन्होंने वैष्णव रूप धारण कर लिया, पंजाब में सिख धर्म का आश्रय लिया, बंगाल में धर्मपूजा या निरंजन-ठाकुर-पूजा के रूप में आत्मप्रकाश किया, उड़ीसा में पंच-सखाओं की साधना में अपने को छिपा लिया और दक्षिणी बिहार (छोटा नागपुर) तथा मध्यप्रदेश में कबीरपंथियों के झंडे के नीचे आत्म-रक्षा की। इस ऐतिहासिक विकास को संस्कृत-पोथियों के सहारे नहीं जाना जा सकता। इसके समझने का एकमात्र उत्तम मार्ग है, वर्तमान देशी भाषाओं के प्राचीनतर साहित्य का अध्ययन। इन बात को न जानने के कारण कभी-कभी बड़े-बड़े पंडितों को भी चक्कर में पड़ना पड़ा है। धर्मपूजा को शुरू-शुरू में बौद्ध-धर्म का अवशेष



मैं कहता आँखिन देखी

समझा गया था। सबसे पहले महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने 'जर्नल ऑफ एसियाटिक सोसाइटी' में एक लेख लिखकर इस बात की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। सन् १९१७ई. में उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ लिविंग बुद्धिज्म' प्रकाशित हुई। तबसे इस विषय की खूब चर्चा होती रही है। धीरे-धीरे यह विश्वास किया जाने लगा है कि धर्म-पूजा-विधान वस्तुतः बौद्ध धर्म का अवशेष नहीं कहा जा सकता, उससे प्रभावित भले ही हो। सन् १९११ई. में श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने 'मयूरभंज' आरक्योलाजिकल सर्वे की रिपोर्ट में यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि उड़ीसा के पंच-सखाओं के साहित्य में बौद्ध-धर्म प्रच्छन्न रूप से जीवित है। विहार में बौद्ध-धर्म चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में जीवित था और उसका विलयन कवीरपंथ में हो गया था, यह बात मैंने अन्यत्र दिखायी है। वस्तुतः केवल एक प्रांत के साहित्यिक अध्ययन से इस इतिहास के सिर्फ एक ही अध्याय का पता चलेगा। संपूर्ण चित्र के लिए अन्यान्य देशी भाषाओं के साहित्य की भी जानकारी आवश्यक है। दसवीं शताब्दी के आस-पास योगमत बहुत प्रबल हो गया था। उन दिनों के जैन, बौद्ध, शाक्त, शैव आदि विभिन्न संप्रदाय के साधकों की भाषा में एक ही प्रकार के विचार घूम-फिरकर आ जाते हैं। बाह्याचार का विरोध करना, चित्त-शुद्धि पर ध्यान देना, शरीर को समस्त साधनाओं का आधार समझना और समरस-भाव प्राप्त करके स्वसंवेदन आनंद के उपभोग को ही चरम लक्ष्य बताना उस युग की समस्त वेदवाह्य साधनाओं की विशेषता है। कभी-कभी तो 'जैन, बौद्ध' आदि विशेषण पहले से ही न मालूम हो तो रचना देखकर यह बताना कठिन हो जाता है कि रचयिता किस संप्रदाय का है। उदाहरणार्थ, जैन-साधक 'जोड़न्दु' कहते हैं कि देवता न तो देवालय में हैं, न शिला में हैं, न चंदन प्रभृति लेख्य पदार्थों में हैं, वह अक्षय-निरंजन ज्ञानमय शिव तो सम चित्त में (समरसीभूत चित्त में) वर्तमान हैं:



मैं कहता आँखिन देखी

देउ ण देवले ण वि सिलाए
ण वि लिम्पइ ण वि चिति।
अखउ णिरंजणु राणमऊ
सिउ संठिउ समचिति।।

तो उनकी यह भाषा वस्तुतः उस युग के अन्यान्य साधकों की भाषा से बहुत भिन्न नहीं है। यह शून्य, सहज, निरंजन आदि शब्द वाद में कवीर, नानक, दादू आदि संतों की भाषा में भी परम उपास्य के लिए प्रयुक्त होते रहते हैं। दादू ने 'ब्रह्म सुन्नि तहँ ब्रह्म है, निरंजन निराकार' कहकर अपने परम उपास्य को स्मरण किया है। कवीर ने 'एक निरंजन सों मन लागा' और 'उलटे पवन चक्र षट् वेधा सुन्नि सुरति लै लागी' कहकर शून्य को बहुमान दिया है और नानक ने 'सुन्नै सुन्न कहै सब कोय, सुन्न रूप वैठा प्रभु सोय' कहकर प्रभु को सुन्न रूप कहा है। स्पष्ट है कि केवल शून्य शब्द का या निरंजन या निरालम्ब शब्द का व्यवहार देखकर ही किसी मत को प्रच्छन्न बौद्ध-मत नहीं कहा जा सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'शून्य' शब्द बौद्ध-साधना में कभी बहुसम्मानित था, परंतु परवर्ती साधकों की पुस्तकों से इस वार में संदेह नहीं रह जाता कि ये शब्द अर्थ बदलकर साधना की अन्य धाराओं में भी अवाध गति से बहते हैं। यदि 'शून्य' शब्द को देखकर किसी साधना को प्रच्छन्न बौद्ध कह दिया जाय तो शून्य को ध्यान करते 'देव सुण्णउं पउ झताहं बलि बलि जोइय जाहै' कहकर अत्यंत उल्लसित होनेवाले जोइन्द को भी प्रच्छन्न बौद्ध कहा जा सकता है।

ऐसा कहना ठीक नहीं है, लेकिन कुछ बातें सचमुच ही इस प्रकार की कही गई हैं। उड़ीसा के पंचसखा-भक्तों को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया है।

अपनी 'गणेशविभूति टीका' नामक पुस्तक में भी बलरामदास ने शून्य रूप में स्थित ज्योति स्वरूप भगवान् का ध्यान इस प्रकार किया है:



मैं कहता आँखिन देखी

अनाकार रूप शून्य शून्य-मध्ये निरंजनः ।

निराकार मध्ये ज्योतिः सज्ज्योतिर्भगवान् स्वयं ॥

इसी प्रकार चैतन्यदेव ने उस पुरुष को अपने विष्णुगर्भ नामक ग्रंथ में 'शून्य रे थाई से शून्ये करई बिहार' कहकर शून्य में स्थित शून्य रूप ही कहा है।

महादेवदास नामक वैष्णव उड़िया कवि ने 'धर्मगीता' में बताया है कि किस प्रकार महाशून्य ने सृष्टि करने की इच्छा से निरंजन, निर्गुण, गुण और स्थूल रूप में अपने पुत्रों को पैदा किया था, पर ये सभी जब सृष्टिकार्य में असमर्थ हो गए तो अंत में उस महाशून्य प्रभु ने अपने को धर्मरूप में प्रकट किया। इस धर्म की सहायता से महामाया ने सृष्टि उत्पन्न की।

निरंजन मत का तीसरा रूप कवीरपंथी पुस्तकों में मिलता है। यहाँ पर यह बताने का प्रयत्न है कि निरंजन ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव और उनकी शक्ति का जनक है, परंतु है वह अत्यंत धूर्त और मक्कार। उसी ने सृष्टि का जाल फैलाया है और भोले-भोले जीव उसकी माया में फँस जाते हैं। वेदमार्गी, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि उसी चक्कर में पड़े हुए हैं। मैंने इस कथा का विस्तृत कवीरपंथी रूप अन्यत्र दिया है। कवीरदास को बार-बार इस धराधाम पर भक्तों को इस धोखेवाज निरंजन से बचाने के लिए अवतीर्ण होना पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है कि पूर्वी प्रदेशों में जिन जातियों में कवीरपंथ को प्रचार करना पड़ा था, उनमें निरंजन मत का प्रचार था। कवीरपंथी आचार्यों ने उनकी सारी परंपरा को इस प्रकार मोड़ दिया है कि निरंजन अपने महत्त्वपूर्ण जगन्नियन्तृ पद पर बैठा हुआ भी शैतान बन गया है। मैंने अन्यत्र दिखाया है कि इन सांप्रदायिक पुस्तकों से ही इस मूल निरंजन मत का पता चलता है।

वस्तुतः निरंजन मत के ये तीनों ही रूप-उड़ीसावाला, बंगालवाला, और कवीर संप्रदायवाला-ओरावों और गौड़ों में प्रचलित सृष्टि-प्रक्रिया से बहुत मिलते-जुलते हैं। ओरावों में तो रमाई पण्डित भी सम्मानित हैं और मेरा तो अनुमान है कि



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

‘बीजक’ में जो ‘रमैयाराम’ कहकर ‘धोखा ब्रह्म’ को बार-बार स्मरण किया गया है, उसमें रमाई पण्डित की स्मृति का अवशेष अवश्य खोजा जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि मुस्लिम आक्रमण के बाद निरंजन मत का जो रूप छोटा नागपुर में रह गया, उसने वहाँ की आदिम जातियों के संपर्क में एक दूसरा रूप ग्रहण किया, बंगाल में तीसरा रूप ग्रहण किया और कबीर संप्रदाय में चौथा रूप ग्रहण किया। पूर्वी रूप के इन चार ही रूपांतरों का मुझे पता है और अनुसंधान करने पर और भी रूपों का पता चल सकता है। इस संबंध में पौराणिक कथाएँ संभवतः आदिम जातियों की सृष्टि-प्रक्रिया-विषयक कथाओं के साहचर्य से बनी हैं, क्योंकि पश्चिम में निरंजन मत के जो रूप प्राप्त हैं उनमें इस प्रकार की कथाएँ नहीं हैं। राजपूताने में निरंजन-मत वैष्णव-मत के रूप में जीवित है। सिख मत में निरंजन का रूप पाया जाता है। स्वयं गुरु नानक ने अलख निरंजन को इस अद्भुत कला-विद्या का प्रवर्तक कहकर स्मरण किया है, जो शून्य से रंग बनाकर, इस अद्भुत पृथ्वी और आकाश को बनाकर इसमें मगन हो रहा है:

अगम निगम की कथा को, मोहि सुनावे आय।

ज्यों कीआ प्रकाश सुन्न ते नाना रंग बनाय।।

अकल निरंजन भला करि, कीना धरनि गगन।

नानक रंग बनाइ के, रहिया होय मगन।।

किस प्रकार यह शून्य और निरंजन की साधना उत्तर भारत के निर्गुण संतों को आश्रय करके प्रकट हुई, यह कहानी बड़ी मनोरंजन है। मेरा अनुमान है कि महाराष्ट्र में भी इस मत ने वैष्णव रूप धारण किया है। संत ज्ञानेश्वर का संबंध सीधे नाथ-गुरुओं से स्थापित किया जाता है, परंतु मैं इस विषय में विशेष नहीं जानता। पंडित-मंडली का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि यदि

देशी भाषाओं के साहित्य का अध्ययन उपेक्षित रहेगा, तो यह संभव नहीं है कि इस महान् धार्मिक उथल-पुथल का सामान्य आभास भी अन्य किसी साधन से प्राप्त हो सके। इस धार्मिक आंदोलन ने समूचे उत्तर भारत के लोकचित्त को शताब्दियों तक प्रभावित किया है और आज भी बहुत दूर तक कर रहा है।

(हज़ारीप्रसाद ग्रंथावली खंड-४ से साभार संपादित)



मैं कहता आँखिन देखी

आनंदघन और कबीर

● श्री कुमारपाल देसाई

“

माटी कहे कुम्हार से
तू क्या रूंधे मोय।
इक दिन ऐसा आयगा
में रूंधूंगी तोय।।

”



में कहता आँखिन देखी

विक्रम की पंद्रहवीं सदी में कबीर ने जाति, ज्ञाति, संप्रदाय, बाह्याचार और धार्मिक मत-मतांतरों से परे होकर साधक की ऐसी सत्यमय अनुभववानी बहाकर ज्ञान का नया प्रकाश फैलाया। इसके बाद विक्रम की सत्रहवीं सदी के पदों की भावनाओं की प्रतिध्वनि सुमधुर ढंग से गूँजती हुई सुनाई देती है। कबीर और आनंदघन ये दोनों अपनी सुरता की मस्ती में मस्त रहनेवाले साधक थे। कबीर ने जड़ रूढ़ियों, अंधश्रद्धायुक्त रीतिरिवाजों, परंपरागत कुसंस्कारों और उससे भी विशेष दंभी धर्माचरणों का प्रचंड विरोध किया, विद्रोह किया। आनंदघन में विद्रोह की झलकी है पर उसकी मात्रा संत कबीर जितनी नहीं है। ये दोनों साधक मस्तराम हैं। आध्यात्मिक अनुभव के दृढ़ आधार पर उनकी साधना टिकी हुई है। जगत की ओर दोनों लापरवाह हैं। कबीर या आनंदघन दोनों में से एक भी अज्ञान के अंधकार या रूढ़ियों के बंधनों में जकड़े हुए आदमी को देखकर हमदर्दी नहीं जताते, उनकी वेचैनी ऐसे जीवों के प्रति अनुकम्पा के रूप में प्रकट नहीं होती। वे तो ऐसी मिथ्या बातों पर जबरदस्त प्रहार करते हैं। ऐसे रूढ़िचारों को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने

की लगन इन दोनों साधकों में है। इसलिए उसे सह लेने के बदले कवीर ब्यंग्य से और आनंदघन उपहास से उसकी भत्सना करते हैं।

आनंदघन के स्तवनों में शास्त्रज्ञान और जैन सिद्धांत विषयक मार्मिक जानकारी का परिचय प्राप्त होता है। लेकिन उनके पदों में वह शास्त्रीय शैली या वह सिद्धांत निरूपण देखने को नहीं मिलता। यहाँ तो विरही भक्त या अलख का नाद जगाने वाले मर्मज्ञ संत के दर्शन होते हैं। कवीर, आत्मा और परमात्मा की प्रणयानुभूति आलेखित करते हैं, तो आनंदघन सुमति की चेतना के प्रति अकुलाहट व्यक्त करते हैं। कवीर के पदों में आत्मा के वियोग का दर्शन है। उन्होंने प्रेम का प्याला पिया है और उस प्रेम के प्याले ने कैसी स्थिति निर्मित की है?

“कवीर प्याला प्रेम का अंतर लिया लगाय;
रोम-रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय।
सब रग ताँत रबाव तन, विरह वजावै नित्त;
और न कोई सुनि सके, कै साई के चित्त।
प्रीति जो लागी धुल गई, पैढ़ि गई मन मांहि;
रोम रोम पिउ-पिउ कहै, मुख की सरधा नाहि।।”

इस प्रेम के कारण रोम रोम प्रियतम को पुकारता है। यह वेदना ऐसी कि अंतर को मथनी मथती है और बाहर उसे कोई समझ नहीं सकता। आनंदघनजी ने भी प्रेम की कथा को ‘अकथ कहानी’ कहा है। इन दोनों साधकों ने माया का वर्णन किया है। कवीर तो माया और छाया (परछाई) को एक समान बताते हैं। भागते हुए आदमी के पीछे माया परछाई की तरह उसके साथ चलती रहती है लेकिन यदि मनुष्य माया से टक्कर ले तो वह भाग जाती है। माया मोहिनी ने अच्छे से अच्छे विद्वानों और मुज्जनों को मुग्ध किया है और उसने आदमी और भगवान के बीच अंतर उपस्थित किये हैं। इसीलिए सत्यज्ञान प्राप्त करके माया के मोहपाश से मुक्त होनेवालों के लिए कवीर कहते हैं:



मैं कहता आँखिन देखी

“माया दीपक नर पतंग भ्रमि माहिं परंत,
कोई एक गुरुज्ञान ते उबरें साधु संत।”

(मायारूपी दीपक है और मनुष्य उस भ्रम में धोखा खाकर माया-दीपक में कूद पड़ता है सच्चे गुरु के पास से ज्ञान प्राप्त करके उससे बच जानेवाले साधु संत तो विरले ही होते हैं।) आनंदघन कहते हैं कि “आतमकालिका” जागृत होने से उनकी मति (बुद्धि) आत्म को मिलने लगी हैं और उन्होने मायारूपी दासी और उसके परिवार को घेरकर अंकुश में ले लिया है। माया में फँसा चेतन अपनी अवदशा बताता है। यह चेतन प्रकृति से अनावृत होने के बावजूद कर्मावृत हो गया है। उसका प्रकाश अंदर घुट रहा है। अपनी शुद्ध चेतना का उसे खयाल है। वह उसके हृदय में ही स्थित है, फिर भी माया के कारण यह चेतना प्रकट नहीं हो सकती। चेतन संसार के मोह राग में त्रस्त बना है। वह परभाव में रमण करता है। स्थूल इंद्रियसुखों में मौज उड़ाता है। शरीर, धन और यौवन की बहुत बड़ी हानि होती है। दिनों दिन उसकी अपकीर्ति बढ़ती जाती है और शराफत छोड़कर गलत रास्ता अपनाने के कारण उनके आदमी भी उसकी नहीं सुनते। माया के ऐसे भ्रमजाल को चित्रित करते हुए कवि आनंदघन कहते हैं:



मैं कहता आँखिन देखी

“परघर भमतां स्वाद किशो लहे? तन धन यौवन हाणः
दिन दिन दीसे अपयश वाधतो, निज जन न माने कांण।”

इसी तरह से कवि आनंदघन एक पद में तन, धन और जवानी को क्षणभंगुर कहते हैं और ये प्राण तो पल भर में उड़ जायेंगे, तन जायेगा, फिर धन किस काम का? अतः जन्म-जन्म तक सुख देनेवाली भलाई करने के लिए कवि कहते हैं। व्यापक चिंतन रखनेवाला यह मस्त कवि मानों जनसमुदाय को सेह से जागृत करता हो वैसा कहता है।

“बेहेर बेहेर नहि आवे, अवसर बेहेर बेहेर नहि आवे;
ज्युं जाणे त्युं कर ले भलाई, जनम जनम सुख पावे,”

(बार-बार अवसर नहीं आता भाई, बार बार अवसर

नहीं आता इसलिए ज्यों ही पता चले, भलाई कर लीजिए, आप जन्म तक सुख पाइए।)

कबीर और आनंदघन दोनों के पदों में हिंदु और मुसलमान के ऐक्य की बात मिलती है। कबीर राम और रहीम एवं केशव और करीम के बीच कोई भेद नहीं देखते और आनंदघन भी कबीर के उसी धार्मिक औदार्य और परम सत्य को प्राप्त करने के लिए रहस्यवाद को हूबहू चित्रित करते हैं इसमें राम, कृष्ण या महादेव को कोई व्यक्ति नहीं मानते। राम अर्थात् राजा दशरथ का पुत्र नहीं, लेकिन आतमराम में रमण करे वह राम। जीवमात्र पर दया करे वही रहीम। कृष्ण अर्थात् कंस को वध करने वाला नहीं, परंतु जो कैलास निवासी है अपितु जो निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करता है वह महादेव। जो आत्मस्वरूप का स्पर्श करता है, छू लेता है वे पार्श्वनाथ और जो चैतन्य आत्म की सत्ता को पहचाने वे ब्रह्मा। इस तरह आनंदघन तो कहते हैं कि उन्होंने इसी रीति से परमतत्व की उपासना की है और यह परमतत्व वह ज्ञाता, दृष्टा और चैतन्यमय है। कबीर के बिल्कुल समकक्ष खड़ी रह सके ऐसी यह आनंदघन की समर्थ वानी है:

“राम कहौ रहिमान कहौ कोऊ, कान्ह कहौ महादेव री;
पारसनाथ कहौ कोऊ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री।
भजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूपरी;
तैसे खंड कल्पना रोपित, आप अखंड सरूप री।
निजपद रमै राम सो कहिये, महादेव निर्वाण री।
करषै करम कान्ह सो कहियै, महादेव निर्वाण री।
परसै रूप सौ पारस कहिये, ब्रह्म चिन्है सौ ब्रह्म री,
इस विध साध्यो आप आनंदघन, चैतनमय निःकर्म री।”

रहस्यवाद में परमात्मा की जो विरल अनुभूति होती है, उस अनुभूति में समय, अहमतत्व और ममत्व की भावना का लोप होता है, उस समय ध्याता और ध्येय दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। इस अपूर्व अद्वैत की अनुभूति को व्यक्त करने



मैं कहता आँखिन देखी

के लिए शब्द समर्थ नहीं हैं, लेकिन संत हृदय में उसकी अभिव्यक्ति की व्याकुलता इतनी बढ़ जाती है कि उस परम तत्त्व की अनुभूति वाणी में खुद-ब-खुद उतर आती है। उस अगोचर और अगम्य तत्त्व को शब्दों में उतारने का प्रयास होता है। परमतत्त्व की यह अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति में विलक्षण होती है, जब अनुभवकर्ता और अनुभूत चीज एक रूप बनते हैं, तब सर्वत्र अखण्ड स्वरूप के दर्शन होते हैं। कबीर इस मधुर अनुभूति को व्यक्त करते हुए कहते हैं:

“लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल;
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।”



मैं कहता आँखिन देखी

जबकि आनंदघन कहते हैं कि प्रियतम से मिलन आत्मा और परमात्मा के साथ का ऐक्य, फूल के चारों तरफ चक्कर लगाते भौरें जैसा नहीं है, बल्कि पुष्प में निहित पराग जैसा है। और जब यह मिलन होता है तब कबीर को 'तेरा साईं तुझमें' का अनुभव होता है। तो आनंदघन के अंतर में 'अनुभवरस की लाली' प्रकट होती है। कवि आनंदघन मनोरम रूपक के द्वारा इस अनुभवलीला का निरूपण करते हुए कहते हैं:

“मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अग्नि परजाली;
तन भाठी अवटाई पीये कस, जागे अनुभव लाली।”

कबीर की तरह आनंदघन ने भी 'अवधू' और 'साधू' को संबोधित करके अपना उपदेश दिया है। इस तरह से आनंदघन ने कबीर की तरह या रहस्यवादी कवियों की तरह प्रणय की परिभाषा में आत्मा और परमात्मा का संबंध प्रकट किया है। इसी तरह 'राम कहो रहिमान कहो' में आनंदघन रहस्यवादी कवि की तरह चैतन्यमय परमतत्त्व के रूप की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। कबीर इस शरीर की क्षणभंगुरता बताते हैं। वे देह को कच्चे कुंभ की तरह बताते हैं और मनुष्य उस कच्ची देह और चंचल मन के सहारे सब चिरकाल स्थिर रहनेवाला है ऐसा मानकर गर्व से सीना फुलाकर फिर रहा है। वह माया

के मोह में मस्त है। लेकिन कवीर कहते हैं कि उसे ऐसे घूमता-फिरता देखकर महाकाल हँसता रहता है और फिर उसकी हालत कैसी होती है?

“हम जानों थें खायेंगे बहुत जमीं बहु माल,
ज्यों का त्यों हि रह गया पकरि लै गया काल।”

(हम तो यह मानते थे कि बहुत जमीन-जागीर है, वेशुमार दौलत है, निश्चित होकर, बुढ़ापे में उसका उपभोग करेंगे। परंतु हुआ क्या? काल झपट्टा मार कर उड़ गया और सब कुछ ज्यों का त्यों धरा रह गया।) गुजरते हुए काल के सामने कवीर की तरह ही आनंदघन एक सुंदर कल्पना से मनुष्य को जगाते हैं:

“क्या सोवै उठ जाग वाउरै
अंजलि जल ज्यूं आयु घटत हैं,
देत पहरिया धरिये धाउ रे।
छंद-चंद नागिंद मुनि चले, को राजा पति साह राउ रे।”

कवीर और आनंदघन दोनों ने जड़-बाह्याचार का विरोध किया उसी तरह वे दोनों पुस्तकीय ज्ञान से प्रभु प्राप्ति के मार्ग के चाहनेवालों का विरोध करते हैं। शास्त्रज्ञान वह एक दीपक हैं जब कि आत्मज्ञान तो रत्न है। दीपक के प्रकाश से रत्न की खोज कर सकते हैं, लेकिन दीपक ही रत्न है ऐसा माना नहीं जा सकता। शास्त्रीय ज्ञान से आगे बढ़कर साधक आत्मज्ञान की आलोचना करते हैं, ऐसा ही पंडितों के ज्ञान के विषय में भी है। ध्यान से विमुख ऐसे ज्ञानी की हालत का वयान करते हुए कवीर कहते हैं:

“ज्ञानी भूले ज्ञान कथि निकट रह्यो निज रूप,
वाहर खोजें वापुरे भीतर वस्तु अनूप।”

(ज्ञानी विचारा ज्ञान की बातों के भँवर में भटक गया था अपना सच्चा-असली स्वरूप अपने ही पास था जो अनुपम चीज उसके भीतर थी, उसकी तलाश में बेचारा कस्तूरीमृग की तरह



मैं कहता आँखिन देखी

बाहर भटक रहा था।) संत कबीर की तरह आनंदघन भी शास्त्र के बदले अनुभव के रसरंग में लीन हैं।

आनंदघन 'अवधू क्या मांगू गुणहीना' पद में कहते हैं कि मैं वेद नहीं जानता, किताब नहीं जानता, विवाद करने के लिए मैं तर्क नहीं जानता, कविता के लिए छंद रचना भी नहीं जानता। आपका जाप नहीं जानता। "बस मैं सिर्फ तेरे द्वार पर खड़ा रहकर तेरा नाम जपना जानता हूँ।"

मध्यकालीन रहस्यवादी कवियों में 'अवधू' 'निरंजन' और 'सोहं' शब्द बारबार दीखता है, आनंदघन के पदों में भी 'अवधू' शब्द का प्रयोग मिलता है। इस 'अवधू' शब्द का प्रयोग आनंदघन जी ने अपने पदों में साधु या संत के अर्थ में किया है। वे कहते हैं:

“साधो भाई! समता रंग रमीजै, अवधू ममता संग न कीजै।”

इसी तरह से आनंदघन निरंजन शब्द का प्रयोग परमात्मा के अर्थ में करते हैं। जो समस्त व्यर्थ आशाओं का हनन करके ध्यान के द्वारा अजपा जप की रट लगाता है।

वही आनंद के घन को, निरंजन को पा सकता है। यह निरंजन सकल भय को हरनेवाला है, कामधेनु है और इसीलिए अन्यत्र भटकने के बदले निरंजन के शरण में जाना उसे ज्यादा पसंद है।

“अब मेरे पति गति देव निरंजन
भटकूँ कहाँ, कहाँ सिर पटकूँ कहाँ कसूँ जन रंजन
खंजन दृगन लगाऊँ, चाहूँ न चितवन अंजन
संजन-घट अंतर परमात्म सकल-दुरति भय भंजन
एह काम एह काम घट एही सुधारस मंजन
आनंदघन प्रभु घट वन केहरि काम मतंग गज गंजन।”

आनंदघनजी के पदों में हठयोग की साधना का प्रभाव देखने को मिलता है। 'अवधू' के संबोधन से उनके अनेक पदों



मैं कहता आँखिन देखी

में इसी साधना की बात की है। 'आत्मानुभव' और 'देहदेवल मठवासी' की बात भी आनंदघन की कुछ साखियों में मिलती है। आनंदघन कहते हैं कि इड़ा-पिंगला के मार्ग का परित्याग करके 'सुषुम्ना घरवासी' होना पड़ता है। ब्रह्मरंध्र के मध्य में 'श्वास पूर्ण' होने के बाद नाद सुनाई देता है और साधक ब्रह्मानुभूति का साक्षात्कार करने की स्थिति को प्राप्त होता है। डॉ. वासुदेवसिंह तो ऐसी संभावना व्यक्त करते हैं कि कवीर का कोई शिष्य का अनुयायी भी साधना की उस उच्च सीढ़ी और काव्य की उस उच्च कक्षा तक पहुँचा नहीं है, जहाँ संत आनंदघन और उनके काव्य पहुँच सके हैं।

कवीर की तरह आनंदघन भी 'आगम पियाला' की मस्ती आलेखित करते हुए कहते हैं:

“आगम पियाला पियो मतवाला, चीन्ने अध्यात्म वासा,
आनंदघन चेतन है खेले, देखे लोक तमासा।”

कवि आनंदघन अध्यात्ममत में लीन लोगों को अगम प्याला पीने के लिए आमंत्रण देते हैं और उसके लिए अध्यात्म का निवास कहाँ है यह ढूँढ़ने के लिए कहते हैं और जब अगम प्याला पीने का आनंद प्राप्त होता है, तब संसार-प्रपंच प्रत्यक्ष दीखता है। इस तरह से दोनों ने 'विरला अलख जगावे' का बोध दिया है; लेकिन दोनों की शैली भिन्न है।

कवीर के पदों में उपदेशों का निरूपण है तो आनंदघन के पदों में सिद्धांत है। कवीर के पद मानवचित्त को बाह्य सरोकारों से मुक्त करके अंतर्मुख होने के लिए प्रेरित करते हैं जबकि आनंदघन का उपदेश व्यक्ति को योग और अध्यात्म की गहराई का अनुभव कराता है। कवीर में व्यावहारिक दृष्टि है और उसमें से मिलते दृष्टांतों की अधिकता है, जबकि आनंदघन के पद योग और तत्त्वज्ञान से भरपूर होने के कारण उन्हें समझने के लिए विशेष सज्जता की आवश्यकता होती है।

कवीर के पदों में आम जनता के हित को लक्ष्य में रखा गया है, जबकि आनंदघन के पदों में व्यक्ति को भक्ति के



मैं कहता आँखिन देखी

लिबास में आत्मा की गहराई में ले जाने का प्रयास है। कबीर के पदों में कहीं भी गुजराती भाषा का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता जबकि आनांदघन के पद राजस्थानी भाषा में होने के बावजूद उनमें गुजराती भाषा का प्रभाव लक्षित होता है। उपदेशक का आवेश उनमें दिखाई देता है। जबकि आनांदघन की शैली आत्मज्ञान की पर्त-दर-पर्त को खोलकर दिखानेवाली है। कबीर में सत्यार्थी संत का उत्कट अभिनिवेश देखने को मिलता है, जबकि आनांदघन में सत्यार्थी वैरागी आत्मा की उत्कट अनुभूति दृष्टिगत होती है। कबीर को समझने के लिए रहस्यवादियों की परंपरा को जानना आवश्यक है, जबकि आनांदघन की थाह पाने के लिए रहस्यवादियों की परंपरा के अतिरिक्त जैन परिभाषा जानने की अपेक्षा रहती है।



मैं कहता आँखिन देखी

इस तरह से कबीर और आनांदघन के पदों में उनका व्यक्तित्व प्रकट होता है। दोनों का हृदय कवि का मन योगी का और मिजाज बादशाह का था। उनके पदों में मस्ती की झलक है। कानों में निरंतर गूँजनेवाला श्रुतिपटुत्व हैं। पदों का उन्नत और आलौकिक भाव, चोटदार रूपक गहन मधुर भाषा और गहरा रहस्यगर्भित चिंतन काव्यरसिकों को आनंद में तल्लीन कर देता है। आनांदघन के पदों की संख्या कबीर जितनी नहीं है। कबीर जैसा आवेशपूर्ण वयान उसमें नहीं है। उसमें व्यवहारिक जीवन की नकद कल्पना नहीं है, इसके बावजूद आनांदघन के पद अपनी संख्या के अनुपात में ऊँची गुणवत्ता रखते हैं। उसमें विकसित कमल जैसा आत्मज्ञान, भावों का लालित्यपूर्ण आलेखन रहस्यगर्भित अनुभूति का वेधक निरूपण, संकुचितता के स्थान पर व्यापक भावनाओं की उज्वलता-इन सबको देखते हुए इन पदों में अनुभवार्थी वैरागी कवि आनांदघन की सर्वोच्च अवस्था का प्रकटीकरण हुआ है। कवि ने 'अनुभवलाली' के आत्म साक्षात्कार से 'अगम पियालो' पिया है और परमतत्त्व में लीन होकर अमरत्व के अनुभव की मस्ती का आनंद लिया है, और उसे गाया भी है। ●

कबीर: अवधारणाओं का पुनराविष्कार

● प्रो. चित्तरंजन मिश्र

“

लाली मेरे लाल की
जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं चली
मैं भी हो गई लाल।। ”



मैं कहता आँखिन देखी

महान रचना इसलिए भी महान होती है कि समय बीत जाने पर भी, युग और परिस्थितियाँ बदल जाने पर भी, उसमें एक संवेदनशील पाठक अपने समय को पा लेता है। अपने समय के घात-प्रतिघात, क्षीण होती मानवीय संवेदना और दुर्बल होती मानवीय गरिमा को महान रचना फिर से रेखांकित करती है। यह आश्चर्यजनक है कि हजारों साल पहले कि कोई वस्तु, तकनीक, व्यवस्था आज हमारे किसी काम की नहीं है। तकनीक तो इस्तेमाल में आते ही पुरानी पड़ जाती है पर हजारों साल पहले की कविता आज भी हमारे काम की है। तभी तो हम अपनी किसी बात पर जोर देने के लिए, उसे प्रामाणिक बनाने के लिए कवियों की पंक्तियों का हवाला देते हैं। वाल्मीकि के श्लोक, कालिदास, भवभूति, भास, सरहपा, कबीर, मीरा, जायसी, तुलसी, सूर, गालिव आज भी हमारे काम आते हैं। कभी हमारी बातों के अधूरेपन

को पूर्ण करने के लिए, कभी उन्हें विश्वसनीय और प्रामाणिक बनाने के लिए, कभी उन्हें सम्प्रेषित करने के लिए या कभी किसी समाज और मनुष्य विरोधी हलचल का खण्डन करने के लिए। शब्द और भाषा का माध्यम नश्वर संसार में भी अमरत्व प्राप्त किए हुए है, इसीलिए वह हर समय हमारे काम का होता है। हर समय वह हमें अपने उदात्त और मूल्यवान तत्वों से समृद्ध भी करता रहता है।

उन्माद की हिकमत तलाशने वाले मीडिया के इस शोर में कवीर को याद करना, बात-बात में, प्रायः हर बात में कलह के रास्ते खोजने और खोलने के इस पुनरुत्थानवादी हल्लाबोल समय में कवीर को याद करना, उनकी वाणियों से गुजरना, उनको फिर से पढ़ना एक जिज्ञासु चेतना की प्रश्नाकुलता को महत्व देना है, जो आज के समय में विवेक सृजन का एक जरूरी कार्य-भार है। यों तो भक्ति काल की पूरी कविता परम्परित अवधारणाओं और परिभाषाओं पर प्रश्न उठाने वाली कविता है, पर कवीरदास की कविता तो उससे भी आगे बढ़कर मानवीय गरिमा, आध्यात्मिक चेतना और दार्शनिक मनोभावों के हमारे सभी पूर्वनिर्धारित संस्कारों पर न सिर्फ प्रश्न उठाती है, वरन् उनके लिए नयी परिभाषाएँ गढ़ती है और उनका नये सिरे से पुनराविष्कार करती है। हम दावे के साथ जोर देकर कह सकते हैं (द्विवेदी जी से क्षमा याचना) कि प्रचलित और मानवीय अस्तित्व के लिए जरूरी कवीर की कविता अवधारणाओं के जरिये पुनराविष्कार की कविता है। 'सत्गुरु की खोज' इस पुनराविष्कार का प्रस्थान बिन्दु है। कवीर ग्रन्थावली के पहले अंग 'गुरुदेव को अंग' की पहली ही साखी को ध्यान से पढ़ने पर यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है जहाँ सच्चे आत्मीय सगे की, सच्चे दान की, सच्चे हितैषी की और सच्ची जाति के चिर-प्रचलित अवधारणाओं को चोट लगती है और नयी अवधारणायें विकसित करने की कोशिश की जाती हैं। कवीर की साखी है -



मैं कहता आँखिन देखी

सत्गुरु सवाँन को सगा, सोधीं सई न दाति।

हरिजू सवाँन को हितू, हरिजन सई न जाति।।

सब जानते हैं कि हमारा समाज कबीर के समय में ही नहीं, आज भी सगेपन को अपने रक्त सम्बन्धों तक ही जानता, पहचानता है, पर कबीर हमारी इस पहचान को चुनौती देते हैं और कहते हैं कि सत्गुरु की तरह का कोई दूसरा सगा नहीं होता। क्योंकि सत्गुरु सच्ची और असली बात सिखाता है और शेष लोग जिन्हें हम अपना सगा समझते हैं, वे हमारे भीतर सांसारिकता को बढ़ाते हैं। हमारे आस-पास अतिशय संसार का सृजन करते हैं, इसलिए वे सच्चे सगे नहीं हो सकते। इसी तरह दान को लेकर जो प्रचलित मान्यतायें हैं उन्हें भी नकारते हुए कहते हैं कि चित्त को विकाररहित करने से बढ़कर कोई दूसरा दान नहीं है। यह कहकर वस्तु केन्द्रित दान चेतना में फँसे हुए समाज को भाव के स्तर पर, आत्मशुद्धि के स्तर पर पहुँचाना चाहते हैं। संसार के लोगों में अपना हितैषी (भला करने वाला) खोजने वालों को यह बताते हैं कि भगवान से बढ़कर कोई दूसरा भला करने वाला नहीं है। इसलिए जगत के प्रपंचों में अपनी भलाई के उपाय मत खोजो। इसी तरह अनेक तरह के जातीय बंधन में फँसे हुए, जाति के आधार पर श्रेष्ठता का क्रम निर्धारित करने वाले समाज के लोगों को चेताते हुए कहते हैं कि भगवान का भक्त होने से बढ़कर कोई दूसरी जाति नहीं है। तो पहली ही साखी में कबीर हमारी अवधारणाओं को न सिर्फ चुनौती देते हैं बल्कि उन्हें पुनर्परिभाषित भी करते हैं। सगेपन, दान, हितैषी और जाति की हमारी अवधारणाओं और हमारी विश्वासों को बदलने का प्रयास करते हैं। कबीर की यह चेतना उनके काव्य की क्रान्तिकारी शक्ति है, जो भक्त और भगवान को भी फिर से खोजती हैं और पहले से चली आ रही अवधारणाओं में, वे चाहे धर्म की हों, भक्त की हों, ईश्वर की हों फिर से खोजकर उनका नया स्वरूप गढ़ने की चेष्टा करते हैं। कबीर जब कहते हैं कि-



मैं कहता आँखिन देखी

दशरथ-सुत तिहुं लोक बखाना

राम-नाम का मरम है आना।

तो लोक में प्रचलित 'दशरथ अजिर विहारी' राम की जगह एक नये राम को खोजने और पाने का प्रस्ताव करते हैं। कबीर की भक्ति अनायास ही नहीं वैष्णव की भक्ति से मिलती-जुलती होने पर भी उनसे सर्वथा अलग है। उनकी 'सहज समाधि' का पर्याय भी इन हठयोगियों की अवधारणाओं से भिन्न है और उनके निजी अनुभवों और चित्त के परिष्कार की साधना की फलस्रुति है। इसलिए कबीर ने हठयोगियों और वैष्णव भक्तों, (जिनसे वे प्रभावित भी लगते हैं) से अलग सन्तों का लक्षण बताया। कबीर द्वारा बताये गये लक्षण उस समय की सामाजिक परिस्थितियों, धार्मिक कर्मकाण्डों, मंदिर-मस्जिद में बँटे हुए समुदायों- सबसे अलग हैं-

कबीर निरवैरी निह कामता, साईं सेती नेह।

विषया सँ न्यारा रहे, संतन का अंग एह।।

कबीर ने कहा कि संत की पहचान चंदन टीके से, विशेष वस्त्र विन्यास से, साम्प्रदायिक दीक्षा से या कानों में कुण्डल से नहीं होती है बल्कि स्वभाव से होती है और वह स्वभाव है- 'निरवैरता' अर्थात् किसी से भी वैर न रखना, 'निहकामना' अर्थात् किसी भी पद-पदार्थ की कामना न करना, 'साईं सेती नेह' अर्थात् परम तत्व रूपी सबके एकमात्र स्वामी से प्रेम 'विषय सँ न्यारा' अर्थात् सांसारिक विषय-वासनाओं से अलग रहना। संत का यह सर्वथा नया रूप स्वभाव कबीर की कविता से निकल कर हमारे समाज का आदर्श बना जो आज भी आदर्श के रूप में निर्विवाद और अमोघ है।

अनेक तरह के विश्वासों और बंधनों में फँसे मनुष्य के भीतर अपने विश्वासों और बंधनों के कारण दूसरे से अलगाव का जो बोध था कबीरदास ने उसकी व्यर्थता पर सीधा प्रहार किया। उनकी दृष्टि में जातीय श्रेष्ठता का बोध निरर्थक और कुछ चतुर लोगों द्वारा दूसरों को छोटा बताने के लिए रचा



मैं कहता आँखिन देखी

गया पाखण्ड है। इन विषयों पर उनके काव्य के असंख्य उदाहरण हिन्दी के पाठकों के बीच प्रचलित हैं 'जो तू बाभन-वाभनी जाया, आन बांट तू काहे न आया' या 'एक बूँद से सब जग कीआ कौन भले कौन गंदे' अथवा 'अरे भाई दुई जगदीश कहां ते आये' जैसे क्रांतिकारी विचार रखने वाला विचारक ही ताल ठोक कर बिना किसी की परवाह किये कह सकता है- 'ना में हिन्दू, ना मुसलमान' क्योंकि उनके लिए प्रचलित और पारम्परिक अर्थों में हिन्दू होना भी उतना ही दुःखद था जितना मुसलमान होना। यदि हिन्दू होकर कोई मनुष्य नहीं रह जाता या मुसलमान होकर भी मनुष्य नहीं रह जाता तो दोनों न होना ही श्रेयष्कर है- ये दोनों होने की तुलना में मनुष्य होना ज्यादा श्रेयष्कर है। कबीर ने अपने क्रांतिकारी विचारों से एक ऐसे मनुष्य की खोज की है जो धर्म जाति की रूढ़ियों से मुक्त हो और इन सब की सीमाओं का अतिक्रमण करे। क्योंकि बिना इस अतिक्रमण के कोई सच्ची बात समझ में नहीं आ सकती। आज हम इन सीमाओं में बंधकर या फँसकर इतने छोटे असहाय और निरुपाय हो गये हैं। कबीर मनुष्य को इसी छुटपन असहायता और निरुपायता से मुक्त करने की कोशिश करते रहें - और उनकी यह कोशिश मनुष्य या कहें भक्त संत का एक नया पुनराविष्कार ही है।

पोथी-ज्ञान का निषेध और उसके स्थान पर भाव सत्य की प्रतिष्ठा कबीर की एक नयी प्रस्तावना है। एक ऐसे समय में जब भक्ति के आचार्यों और औपनिषदिक विमर्शकारों द्वारा ज्ञान की तत्व मीमांसा के लिए वृहदाकार ग्रन्थों का प्रतिपादन किया जा रहा हो एक क्रांतिकारी विचारक ही यह कह सकता है कि-

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा पंडित भया न कोय।

ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।।

ज्ञान के अपार पारावार समुद्र में पोथी पढ़ते-पढ़ते, रटते-रटते सारा संसार मर गया पर कोई ज्ञानी नहीं हो पाया।



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

प्रेम का ढाई अक्षर पढ़ लेना, आत्मसात कर लेना ही सच्चा ज्ञान है। कवीर और उनके परवर्ती सभी संतों ने ज्ञान की चरितार्थता जानने में नहीं उसे भाव के रूप में अपने आचार-व्यवहार का अंग बनाने में स्वीकार की है। जैनेन्द्र कुमार ने 'त्यागपत्र' के आन्तरिक आवरण पृष्ठ पर बहुत ही मार्मिक वाक्य लिखा था 'ज्ञान की सार्थकता जानने में नहीं वैसा बनने में है'। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द सबने यह स्वीकार किया है कि ज्ञान आचरण में आकर सार्थक होता है और जो विचार आचरण का प्रेरक न बनता हो वह बंजर होता है। इस अवधारणा का मूल कवीर की कविता में सहज भाव से अभिव्यक्त हुआ है। लेकिन कवीर जिस प्रेम को पढ़ने की बात करते हैं उस प्रेम की शर्तें कवीर की कविता में ही बहुत कठिन बताई गयी हैं। उन कठिनाइयों पर विजय पाकर ही कोई प्रेम के ढाई आखर को पढ़कर पंडित हो सकता है। कवीर की यह उक्ति और कवीर वाणी में इसके अनेक संदर्भ 'पंडित' और 'प्रेम' की पूर्व प्रचलित आवधारणाओं का पुनराविष्कार ही हैं। इस नये ज्ञान के आलोक में कवीर ने अपने समय के थोथे आदर्शों, कर्मकाण्डों, विश्वासों और 'मन को छोड़कर सिर्फ कपड़ा रंगने' वाले ढोंगियों के आचरण की परख की और समाज को उससे बचाने का यत्न किया। यह यत्न वे जिस कविता में करते हैं उस कविता के मर्म तक पहुँचने के लिए उनके क्रांतिकारी व्यक्तित्व को आत्मसात करना पड़ेगा। ऐसा किए बिना हम अक्सर उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचेंगे जिनके आधार पर उन्हें एकेश्वरवादी, अद्वैतवादी, मायावादी आदि कहकर उनकी कविता के असल मर्म को एक ओर ठेल दिया जाता है, दार्शनिक ढाँचों और प्रचलित ख़ाँचों में फिट करने की चेष्टा की जाती है, हालाँकि हर चेष्टा असफल होती है और ख़ाँचों के बाहर की बातों का उल्लेख करते हुए उनमें अनेक असंगतियों की खोज कर ली जाती है। अक्सर यह भुला दिया

जाता है कि यह असंगतियाँ नहीं, कबीर की विचार यात्रा की पृष्ठभूमि है जिसमें साधनाओं, मान्यताओं, विश्वासों और कर्मकाण्डों की इतनी विविधता है कि उसकी छाप उसी भाषा को स्वीकार कर लेने की अपरिहार्यता के कारण कबीर की कविता में आती है।

पुरोहितवाद और कठमुल्लेपन की सोच वाले धर्मगुरुओं और मुल्ला मौलवियों की जब तब खबर लेने वाले कबीरदास मुक्ति 'मोक्ष-आवागमन के बंधन से मुक्ति' के प्रश्न पर भी अपनी तार्किक और व्यंग्यपूर्ण शैली में सवाल खड़े करते हुए कहते हैं कि ये सब बातें कपोल-कल्पित और ढकोसला की तरह हैं, इसके बारे में कोई भी ठीक-ठीक न जान पाया है और न बता पाया है। उनका एक प्रसिद्ध पद है - -

पढ़ि-पढ़ि पंडित करु चतुराई, निज मुक्ति मोहि कहु समुझाई

कहँ बस पुरुष कहाँ सो गौंउ, पंडित मोहि सुनावहु नाउँ।
चार वेद ब्रह्मा जिन ठाना, मुक्ति मर्म उनहुँ नहिं जाना।
दान-पुन्य उन बहुत बखाना, अपने मरनि को खबर न जाना।

एक नाम है अगम गंभीर तहवाँ स्थिर दास कबीर।

चिउँटी जहाँ न चढ़ि सके राई न ठहराय।

आवागमन को गम नहीं, तहँ सकलो जग जाय।

कबीर मोक्ष के बारे में गंभीर सवाल छेड़ते हुए पूछते हैं कि मुक्ति के बारे में तुम इतने उपदेश करते फिरते हो, क्या तुम्हें स्वयं उसका अनुभव या ज्ञान है? अगर तुम कहते हो कि मुक्ति परम पुरुष या परम तत्व से एकाकार होना है तो मुझे बताओ कि उस परम पुरुष का क्या नाम है? और उसके रहने की जगह कहाँ है? जिन ब्रह्मा ने चारों वेदों की रचना की है क्या उन्हें मुक्ति के मर्म की जानकारी थी, उन्हें तो अपने मरने की भी खबर नहीं थी। कबीरदास कहते हैं कि वे तो एकमात्र तत्व को जानते हैं जो अगम और गंभीर है, कबीर



मैं कहता आँखिन देखी

उसी एक तत्व पर स्थिर होकर टिका हुआ है- और वह परम तत्व है आत्मज्ञान। इस पद में चींटी मन का प्रतीक है और राई बुद्धि की। वे कहते हैं कि वहाँ मन और बुद्धि दोनों की पहुँच नहीं है। दोनों वहाँ स्थिर होकर टिक नहीं सकते हैं क्योंकि वह आत्मा रूपी परम तत्व ही आवागमन के बंधन से परे और देशकालातीत है। अज्ञान के बंधन से छुटकारा पाकर ही आत्मानुभूति हो सकती है और यह आत्मानुभूति ही मुक्ति है। यह कहकर कवीर मुक्ति को आत्मानुभूति के रूप में स्थापित करते हैं और इसके अतिरिक्त मुक्ति की जो बातें कही गयीं हैं उनकी सारहीनता तथा खोखलेपन को उजागर करते हैं। 'आत्मानुभूति ही मुक्ति है' कवीर की एक नयी अवधारणा है- चली आ रही अवधारणा के समानान्तर।



मैं कहता आँखिन देखी

कवीर की पूरी कविता आत्मानुभूति की कविता है और उसमें केवल कितावों में लिखी बातों तथा सुनी-सुनायी चर्चाओं के लिए कोई जगह नहीं है। वे अपने अनुभव को ही प्रमाण मानते हैं और इसीलिए हमारे समय के कवियों के भी आदर्श और प्रेरणास्रोत बने हुए हैं, हालाँकि इस आदर्श और प्रेरणास्रोत को कितनी जगह सिर्फ शब्दों में मिली है और कितनी जगह अनुभवों में इस पर अलग से विचार किया जाना चाहिए। हरिऔध जी से लेकर आचार्य द्विवेदी और परवर्ती काल के विचारकों ने भी कवीर की कविता के केन्द्र में अध्यात्म को रखकर ही उस पर विचार किया है। यह ठीक भी है क्योंकि भक्ति काल का हर कवि धर्म, अध्यात्म और ईश्वर को केन्द्र में रखकर ही अपनी कविता लिख रहा था लोगों को अपने समय को सम्बोधित कर रहा था। वैसे ही जैसे हमारे समय का कोई कवि, रचनाकार, विचारक या दार्शनिक लोकतंत्र और समानता के आदर्शों को छोड़कर अपनी बात नहीं कर सकता। हालाँकि अब ऐसा होने लगा है और लोकतंत्र तथा समानता के मूल्यों को भी प्रश्नांकित किया जाने लगा है। पर हम कवीर की कविता के मार्मिक स्थलों पर विचार करें तो यह आत्मज्ञान को परम तत्व का ज्ञान मानती

हुयी प्रतीत होती है। वह 'पिंजर प्रेम प्रकाशिया' की कविता है। 'कस्तूरी कुंडलि बसै' की कविता है। गंभीर अध्येता पुरुषोत्तम अग्रवाल ने उसे 'आतम खबर' की कविता कहा है। कवि आलोचक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने उनकी कविता के केन्द्र में सत्य के ताप, स्वानुभूति की प्रखरता और प्रेम की तीव्रता को महत्व दिया है। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि कवीर पंथी साधु और विचारक श्री अभिलाष दास जी ने कवीर की कविता को इहलौकिक व्याख्या और विवेचना का प्रस्ताव करते हुए इस दिशा में गंभीर कार्य भी किया है। कवीर की कविता का अध्यात्म भी आत्मतत्व की पहचान पर ही टिका है। इस संदर्भ को सामने रखकर जब हम कवीर की कविता को पढ़ते हैं तो वहाँ अपने समय का यथार्थ और भी साफ-साफ सुनायी देता है। उस यथार्थ की चर्चा होती भी रही है। कवीर का एक पद जिसमें रूपक का बहुत अच्छा निर्वाह हुआ है, उस समय के किसान जीवन की वास्तविकता को, किसान पर तत्कालीन व्यवस्था से पड़ने वाली चहुँओर की मार का बहुत मार्मिक वर्णन है-

अब न वसूँ इहि गाँइ गुसाईँ, तेरे नेवगी खरे सयौँ हो
रामा ॥

नगर एक जहाँ जीव धरम हता, वसै जु पंच किसाना ॥
नैनूनिकट श्रवनूं रसनूं इन्द्री, कह्या न मानै हो रामा ॥
गाँव कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।
जोरि जेवरी खेत पसारें, सब मिलि मोकौ: मारे हो
रामा ॥

खोटी महतों विकट बलाही, सिर कमसद का पारै ॥
बुरा दिवान दादि नहिं लागे, इक वाँधि इक मारे हो
रामा ॥

धरमराज जब लेखा मांग्या, वाकी निकसी भारी ॥
पाँच किसानौ भजि भजि गये है। जीव पर वाँधो पारी
हो रामा ॥

कहे कवीर सुनहु रे संतो, हरि भजि वाँधौ भेरा।

अवकी वेर बकसि वँदे कौ, सब खेत करौँ नवेरा ॥



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

कवीर कहते हैं कि हे मालिक ! अब मैं इस शरीर रूपी गाँव में रहना नहीं चाहता क्योंकि आप के कारिदे चतुर और कठोर स्वभाव वाले हैं। यहाँ जीव अपने वास्तविक कर्म से विरत हो जाता है और उसके साथ के पाँचों किसान (इंद्रियाँ) उसकी बातों को न मानकर मनमानी करते रहते हैं। इस शरीर रूपी गाँव का स्वामी मन है और कर्म रूपी कायस्थ (पटवारी) के खर्च की सीमा नहीं है। जिस तरह अमीन जरीब से खेत नापता है, उसी तरह इच्छाओं और वासनाओं की जरीब सारे शरीर को नापती रहती है। ये सब मिलकर जीव को मारते (सताते) रहते हैं। इस गाँव में आपका करिंदा कठोर है, गाँव का मुखिया खोटे स्वभाव वाला है और बलाती (लगान वसूलने वाला) निर्दयी है। इस निर्दयी को किसी से कांई सहानुभूति नहीं है, वह बड़े-बड़े लोगों के भी बाल उखाड़ कर वेईज्जत करता रहता है। आप के दीवान से पुकार करने पर भी कोई फायदा नहीं होता। वे किसी को बाँधते और किसी को मारते हैं या कह सकते हैं कि आप के द्वारा नियुक्त अधिकारियों में से कोई बाँधकर सताता है और कोई पीटकर। मरने के बाद जब धर्मराज ने मेरे कर्मों का हिसाब-किताब किया तो मेरे ऊपर भारी बकाया निकला है जिसका परिणाम यह हुआ कि पाँचों इंद्रियों के समान (मरने पर इंद्रियाँ नहीं रह जातीं) किसान गाँव छोड़कर भाग गये हैं और जीव को हाथी के पैरों में बाँध दिया गया है। कवीर कहते हैं कि हे संतों सुनो भगवान के भजन रूपी वेड़े को तैयार करो जिससे यह जीव इस यातनापूर्ण भवसागर से पार हो जाय और फिर उसे इसमें वापस न लौटना पड़े। इस पूरे पद में सामंती व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन की पीड़ा को जीव के माध्यम से व्यक्त किया गया है। यह पद आध्यात्मिक चेतना के भीतर किसान-उत्पीड़न की मार्मिक व्यंजना का प्रतीक और प्रमाण है।

कह सकते हैं कि कवीर की कविता जिंदगी के रूई और सूत से बनी हुई कविता है, वह सीधे अपने समय के लोगों

से अनवरत संवाद करती हुई कविता है, इस संवाद में परम्परा से प्राप्त आध्यात्मिक अवधारणाओं और पारिभाषिक शब्दावली का पुनराविष्कार है। कवीर की कविता प्रेम और भक्ति के अन्योन्याश्रय का उद्घोष करने वाली हिन्दी की आदि कविता है, उसमें प्रेम और भक्ति का तीव्र आवेग है और यह आवेग उनके निजी अनुभवों का है। कवीर का जीवन श्रम की संस्कृति की प्रतिष्ठा करने वाला जीवन है, उनकी कविता का सच उनका अपना कमाया हुआ सच है, इसीलिए उसमें अपने अनुभव का ताप और एक गतिशील ऊर्जा है जो हमारे समय को भी प्राणवंत करती रहती है। कवीर ने सामंती शक्तियों से, उनकी मान्यताओं से जीवन भर लोहा लिया और एक ऐसे समय में जो धर्म के सामंती स्वरूप द्वारा सामान्य जन के विश्वासों के उत्पीड़न का, समय था कवीर ने साहस के साथ इसका मुकाबला करने का वातावरण बनाया। ●



मैं कहता आँखिन देखी

कबीर-साहित्य : बाज़ारवाद

● डॉ. रतनकुमार पांडेय



मैं कहता आँखिन देखी

“

कबिरा खडा बजार में
लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके अपना
चले हमारे साथ।।

”

आ

ज हम इक्कीसवीं सदी में कबीर-साहित्य में बाज़ारवाद की स्थिति पर विचार करने जा रहे हैं जो साहित्य चौदहवीं सदी में रचा गया है। आज की सदी 'अर्थ-सदी' है जिसमें ऐसे से ही विचार संयोजित हो रहा है। जिसकी मूल चेतना है — जुटाओ, भोगो और तृप्ति की डकार लो। जबकि कबीर का चिंतन था —

”साईं इतना दीजिए जामें कुटुम समाय।

मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय।।”

आज मनुष्य की चाहत समुद्र की लहरों की भाँति है। जो एक के बाद एक उठती रहती है। यह मन को संतप्त कर देती है क्योंकि ये हमें एक अंतहीन सफर पर ले चलती है। इसमें दृष्टि बाह्य होती है, हम संतोष से कोसों दूर होते हैं। इस असंतोष से हम सही-गलत का भेद भूल जाते हैं। कई बार हम वह कार्य करते हैं जिन्हें करने का मन गवाही नहीं

देता। संभवतः इसी कारण कामनाएँ दूषित हो जाती हैं। कामनाएँ हमें विराट करने के लिए हैं क्योंकि प्रकृति में क्षुद्रता का कोई स्थान नहीं है। एक नन्हा सा बीज विशाल वृक्ष बनता है और एक क्षीण जलधर सागर में मिलकर प्रशांत बन जाती है।

कवीर जानते थे कि बाजारू व्यवस्था में हर चीज विकाऊ होती है। सोच, भावना रोजमर्रा की दास्तौँ तक। बाजारी विनिमय शक्ति के चलते माता की ममता, बच्चों की मासूमियत, तोतली आवाज, लाड-दुलार और स्नेह सब कुछ सौदेबाजी का हिस्सा बन गया है। क्या कारण है कि कवीर बाजार में खड़े होकर बाजार को चुनौती देते हैं —

कवीरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ।

जो घर फूकें अपना, चले हमारे साथ।।

कवीरदास बुनकर थे और कपड़ा बुनने का काम करते थे। जो कपड़ा बुनते थे उसे बाजार में ही बेचना पड़ता था। जो साड़ी बुनते थे वह हाजी, शेख की कोठी पर खरीदी जाती थी जहाँ लाभ की बात तो दूर श्रम का उचित दाम भी नहीं मिलता था। उसी बनारसी साड़ी को बेच हाजी, शेख जैसे व्यापारी हजारों हजार लाभ कमाते थे। श्रम का शोषण वस्तुओं को उचित कीमत न मिल पाना उनके अनुभव में था। इस कारण बाजार की इस व्यवस्था को नष्ट करने का आवाहन करते हैं। इसमें खतरा तो है पर कवीर को इसका भय नहीं। इसी कारण सामान्य जनता की गुहार लगाते वे उनके खैरियत की आकांक्षा रखते हुए लिखते हैं —

कवीरा खड़ा बाजार में सबकी मांगे खैर।

ना काहू से दोस्ती, ना काहू से वैर।।

वे जानते थे कि बाजार हमारी मनुष्यता का हरण करता है। बाजार ऐसा तंत्र है जहाँ आदमी की पहचान खो जाती है। वह अजनबी हो जाता है। मात्र भीड़ का हिस्सा रहता है। इसकी दशा ऐसी हो जाती है जैसे —



मैं कहता आँखिन देखी

कातिल की यूँ पनाह में बैठे हैं मुतमडन।

जैसे हमारे सिर पे मसीहा का हाथ हो।।

आज बाजार का रूप तो बदला है और कार्यप्रणाली भी, परंतु उसका मूल चरित्र क्रूरता बर्बरता का, अन्याय अत्याचार का अपनी जगह कायम है। बाजार को मार्केट कहते हैं जहाँ सिर्फ मार काट है, लूटी-पिटी शक्लें तथा कटी-फटी जेबें हैं। बाजार के कूचे में प्रवेश करते ही ग्राहक का बाजा बजने लगता है, तभी तो बाजार जानेवाले को कस्टमर कहते हैं। बाजार जानेवाले की जेब हल्की और दिल भारी होता है। सामानों का दाम सुनते ही मरकट (बंदर) की भाँति दाँत किटकिटाता है। बाजार में अब सड़क के किनारे रेहाड़ी, ठेलों पर बिकनेवाले सामान साप्ताहिक बाजार कल की चीजें हो गईं। अब बाजार जो मार्केट है — मॉल, शापिंग सेंटर, बिग बाजार, रिलायंस फ्रेश, सुभिक्षा के रूप में रूपांतरित है। जहाँ वातानुकूलित सजी-धजी दुकानों में उपभोक्ता का सामान उपलब्ध। कल का खरीददार आज उपभोक्ता बन चुका है। बाजार के नए रूप के समय कबीर के युग की आर्थिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण तथ्य निम्नलिखित पंक्तियों में सामने आता है —

मन रे! कागद कीन पराया

कहा भयौ व्यौपार तुम्होरे कलतर वढैं सताया।

वडै वोहरै सांटा दिन्हों, कलतर काढ़यो खोटैं।

पूंजी वितड़ी वदि लै दैहै, तव कहै कौन कै छुटै,

गुरुदेव ज्ञानी भयो लगनिया, सुमिरन दीन्हों हीरौ।

कबीर के युग में छोटे, लघु व्यापारी को धनिकों, व्यापारियों से ऋण लेना पड़ता था। ऋण से संबंधित शर्तों की बराबर लिखा-पढ़ी होती थी जिस कर्ज पर व्याज की दर अधिक ऊँची रखी जाती थी तथा जमानतदार की भी जरूरत होती थी। ऋण देने वाले वोहरा जाति से संबंधित होते थे उन्हें वोहरा कहा जाता था। ऋण का भुगतान न करने पर सजा होती थी जो कैद के रूप में दी जाती थी। आज भूमंडलीय



मैं कहता आँखिन देखी

पूँजी से बाजार पैदा हो रहा है इसके आर्थिक शिकंजे में लोग फँसते जा रहे हैं। बाज़ार में मूल्यों की कीमत नहीं मूल्यों का कारोवार है। बाज़ार में प्राइज (कीमत) है। मूल्य (वैल्यू) में नैतिकता, मनुष्यता, सामाजिकता है। बाज़ार में कब्जा की आज लड़त मूल्यों की रक्षा की नहीं कीमत की रक्षा का युग है। आज के इस विश्व में संसाधनों पर कब्जा, बौद्धिक संपदा पर कब्जा, प्राकृतिक संपदा पर कब्जा आदि क्या नहीं हो रहा है? इसे देखते हुए बाज़ार के चातुरी भरे माल के उपभोक्ता की नासमझ भरी प्रसन्नता को देख यह कहा जाना चाहिए —

को नु हासो, किंमानंदों, निज्जपज्जलिते सति।

अंधकारेण ओनंदो प्रदीपम न गवेसथ।।

क्यों हंस रहे हो, किस बात से आनंद में डूबे हो, अपनी अज्ञानता की आग में जलते जा रहे हो। अपने लिए प्रकाश का दीपक क्या नहीं तलाशोगे? हमारे समय की क्रूरताओं, खलनों तथा चालाकियों को अचूक तौर पर पहचाना जा सकता है। पूँजीवाद फांसीवाद को जन्म देता हैं जिसकी वजह से व्यक्ति का अंतर्विभाजन हो जाता है। उसका चित्त शीशे के टुकड़े की तरह बिखर जाता है तथा मनुष्य के भीतर आत्मघात की प्रवृत्ति अस्तित्व में आती है। बाज़ार में अर्थ जीतता है और मनुष्यता हारती है तथा एक नृशंस उपस्थिति मजबूत होती है। सुकोमलता और संवेदनशीलता टूटती है। बाज़ार ऐसी व्यवस्था का प्रतीक है, बाजार ऐसा तंत्र है जहाँ आकर आदमी की पहचान खो जाती है, वह अजनबी हो जाता है, भीड़ का हिस्सा बन जाता है। नई परिस्थिति उत्पन्न होने के कारण मानव श्रम की भूमिका महत्वहीन हो जाती है, जिससे स्वत्व का लोप हो जाता है। आर्थिक जगत में अपराध और भ्रष्टाचार सर्वव्यापी है। ऐसे बाजार के संदर्भ में कवीर के इस पद को देखा जाय —

यह संसार बजार मंड्या है जानैगा जन कोई
में परदेसी काहि पुकारौं इहां नहिं कोई मेरा,



मैं कहता आँखिन देखी

खांहिं हलाल, हरौम निवारै, भिस्त तिहु कौ होई,
पंच तंत का मरम न जानै, दोजखि पड़िहैं सोई।

अर्थात् इस संसार में बाजार मंडित (लगा) है। उसकी असली पहचान कोई विरला ही कर सकता है। में यहाँ के लिए परदेशी हूँ। यहाँ कोई मेरा आत्मीय नहीं है। हलाल हलाली के कर्तव्य पर आरूढ़ है उसे ही बाजार का लाभ (स्वर्ग) नसीब है। जो इस तन्त्र का मर्म नहीं जानता वह नरक में (भयानक कष्ट पूर्ण जीवन) में पड़ता है। जो कर्तव्य पर आरूढ़ होकर जीवन यापन करते हैं और हराम (विना श्रम के लाभ प्राप्त) करते वे भी स्वर्ग में (सुख भोग) पड़ते हैं। जो लोग (बाजार के) पंचतंत्र के मर्म को नहीं जानते वे भी नरक में पड़ते हैं। आज के भी बाजार का पंचतंत्र पांच 'P' है। यह ही बाजार को संचालित करता है। ये पांच 'P' हैं — प्रोडक्ट (उत्पाद), प्राइज (कीमत), प्लेस (स्थान), पब्लिसिटी (प्रचार), प्रोसिजर (प्रक्रिया) इन्हीं के चलते चातुरीभरा माल विकता है। ऐसे बाजार में व्यक्तिगत उपलब्धि आकांक्षा होती है। इसी कारण आस्कर वाइल्ड ने लिखा था — "सिनीक इज द मैन, हू नोज प्राइज ऑफ एवरी थिंग बट वैल्यू ऑफ नथिंग। नए विश्व ग्राम में उदारीकरण की नीति ने आज बाजार के स्वरूप को बदल दिया है। उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के चलते बहुराष्ट्रीय कंपनियों का आगमन, विदेशी पूँजी विनिवेश का उद्देश्य और नैतिकता मात्र लाभार्जन है। कंपनियों के ग्लैमर से सराबोर विज्ञापन है जो सामान्य घरों में भी संपूर्ण नज़ाकत, नफ़ासत और अदाकारी के साथ प्रवेश कर चुकी हैं। जो वस्तुओं के पीछे छिपे पूर्ण यथार्थ को काल और स्थान के चलते हमें दिखाई ही नहीं वरन हम यथार्थ का आभास मात्र (आभासी यथार्थ) करके जैसा देखना चाहते हैं वैसा वे दिखाई पड़ती हैं। यह यथार्थ नहीं यथार्थ का आभास है। इसी कारण बाजार के प्रभावशाली लोगों के बारे में कहा जा सकता है —



में कहता आँखिन देखी

वनते तो हैं कबीर लुकाठा लिए हुए।

घर फूंकते हैं और का हम लोग आजकल।।

वाज़ार के इस भूल भुलैया में इतना समझने की आज जरूरत है कि यहाँ मार्केट मैनेजमेंट, मीडिया की अंतर्बद्धता तथा अंतर्क्रिया से पृथ्वी का चप्पा-चप्पा वाज़ार और वित्तीय पूंजी की आवश्यकता बनकर रह गया है। वित्तीय पूंजी की विकृति ने अमानवीय संबंधों और संवेदनाओं को बेचने की कोशिश से लोक संस्कृति को अपदस्थ करके, जातीय पहचान को गौण बना दिया है। अब सोच-विचार की शक्ति स्थगित है। ग्लोबल विश्व के इस माहौल को देख कह सकते हैं —

तुम्हारे पाँव के नीचे कोई जमीन नहीं है

कमाल ये है कि फिर भी तुम्हें यकीन नहीं है।

इस विश्व ग्राम में लाभार्जन की अंतहीन दौड़ है। इसमें माँ-बाप के नाजायज सपनोंवाली पीढ़ी शामिल है। इसके कारण वाज़ार में शोषण पराकाष्ठा पर है। वाज़ार की प्रतिस्पर्धा के चलते आजीविका कमानेवाला लघु और मझोला व्यापारी दरकिनार होकर भूख का शिकार हो चुका है। कबीर लिखते हैं —

मेरे जैसे बनजि सों कौन काज, मूल घटै सिर बंधै ब्याज।

नौ बहियां, दस गौनि आहि कसनी बहतोर लागै ताहि।

सात सूत मिली बनजि कीन्हें कर्म पयादौ संग लीन्ह।

तीन जगती करत रारिचल्यौ बनजि वावनज झारि।

बनजि खटानों, पूंजी टूटी षाडदह दिसि गयौ फुटि

कहैं कबीर यह जन्म बाद सहजि समांनु रही लादि

यहाँ अध्यात्मिक अर्थ से परे लौकिक धरातल पर विचार करें तो कबीर का सामाजिक अनुभव स्पष्ट हो जाता है। कबीर जैसे लोग यदि व्यापार करेंगे तो उसमें उन्हें लाभ नहीं होता बल्कि उनका मूलधन भी निरंतर घटता जाता है। उनके ऊपर ब्याज की वृद्धि होती जाती है। जो बड़ा पूंजीपति या



मैं कहता आँखिन देखी

व्यापार का नायक है उसके पास नौ बहियाँ और दस गोनियाँ (बोरियां) भरी होती है, जिन्हें बहत्तर रस्सियों से कसकस बाँधा गया होता है। वह सात प्रकार के सूद का व्यापार करता है, तथा प्यादे को उगाही हेतु साथ लेकर निकलता है। तीन प्रकार के टैक्सों को वसूलने के लिए वे झगड़ा करते आगे बढ़ते हैं। झगड़कर इतना कर वसूल किया जाता है कि व्यापार करनेवाले के संपूर्ण व्यापार की कमाई चली गई। वह हाथ झाड़कर चलता बना है। उसका व्यापार समाप्त हो गया, पूंजी टूट गई। वह व्यापार छोड़कर सामान लादने का कार्य करने को विवश हो गया। आज का बाज़ार जैसे एक ह्युमन इंजिनियरिंग की तरह (एक निर्मित की तरह) है। आज बाज़ार पूंजी के द्वारा किये जानेवाले मानवीय अभियंत्रण (ह्युमन इंजिनियरिंग) की सूचना पर कान रख कर सफलता प्राप्त करता है, उसे चुपचाप सुनकर क्रियाशील होता है। बाजार के सच को तभी परखा जा सकता है। यही बात कबीर बाजार व्यापार के बिंब द्वारा भक्ति निरूपण में करते हुए कहते हैं —



मैं कहता आँखिन देखी

चोखौ बनज व्योपार करीजै। आई नैं दिसावरि रे राम
जपि लाही लीजै रे!

जब लगि देखीं हाट पसारा। उठी उठी वाणिया रे करिलै
वणिज सवारा रे!

खरा न खोटो ना परिखाँ नौ। लाहेकारनि रे सब मूलहिं
रांनो रे!

सकल दूनी में लोभ पियारा। भूल जराखै रे सोई वणिजा
रा रे!

अध्यात्मिक अर्थ में वे लाभ, लोभ, व्यापार की प्रकृति की बात करते कहते हैं कि हे जीव! तुम इस संसार में चोखा (उत्तम), धर्म भक्ति का व्यापार कर लो। जब तक संसार रूप बाजार का प्रसार देखने में लगे रहोगे तब तक उठकर वाणिज्य कर लो (राम भक्ति का व्यापार कर लो) संसार (बाज़ार) में यदि भूले रहोगे तो समय बीत जायेगा तो सारा कार्य व्यापार

स्थगित हो जाएगा। तुम्हें खरे-खोटे की परख भी नहीं है। तुमने लाभ के लिए मूल ही गवां दिया है। सारे संसार को लाभ ही प्रिय है। वास्तविक व्यापारी वही होता है जो मूल की रक्षा करता है। यहाँ बाज़ार के बिंब द्वारा जीवों के क्रिया-कलाप तथा भक्ति साधना की आवश्यकता को अंकित किया गया है। एक प्रकार से देखा जाय यहाँ तथाकथित उपभोक्तावाद की व्यंजना गुणीभूत है। उपभोक्ता का मतलब जीवन के लिए संसाधनों को जुटाना। ऐसा नवधनाढ्य वर्ग आज उपभोक्तावादी होने को खुशकिस्मती समझता है इसी कारण लोभ लाभ और लालच की पराकाष्ठा पर आज स्थित है। इसलिए अंत में मैं यही कहूँगा —

करती है फरियाद ये धरती हजार-लाख साल।

तब जाकर पैदा होता है, एक कवीर जैसा लाल।।



मैं कहता आँखिन देखी

कविता, संगीत और आध्यात्म की त्रिवेणी – लालन शाह

● श्री शैलेश सिंह



मैं कहता आँखिन देखी

भारतीय उपमहाद्वीप में साधना की विभिन्न पद्धतियां व उसे पोषित करने वाले मत/ सम्प्रदाय पिछले दो से ढाई हजार साल से प्रचलित व स्वीकृत हैं। जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त, नाथ, तंत्र, सिद्ध, सूफी, हीनयान, महायान, सहजयान, बाऊल आदि साधना मार्ग भारतीय जनगण को समय-समय पर आकर्षित करते रहे हैं। इस्लाम के आने के बाद इस पूरे महाद्वीप में सूफी मत का प्रेम मार्ग भारतीयों को सहज ही भाने लगा, क्योंकि इसमें निराकार ईश्वर की स्तुति का राग था, जाति की श्रेष्ठता नहीं थी तथा समानता का आग्रह था। इस परंपरा में कई सूफी संत हुए जिन्होंने देश के जनमानस की आध्यात्मिक प्यास बुझाई। जैसा कि विदित हो सूफी मत में हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्म संप्रदायों के लोग

लालन शाह फकीर के गीत – चयन एवं बांग्ला से
हिन्दी अनुवाद: मुचकुंद दूवे,
मूल्य: रु. ५००/
प्रकाशक: साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, ३५,
फीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली-११०००२

प्रेम और आध्यात्म का उच्चतर भाव समय-समय पर संप्रेषित करते रहे। सलीम चिश्ती, ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती, निजामुद्दीन औलिया आदि सूफी संत हुए हैं। इनके शागिर्द व इनकी परंपरा को आगे बढ़ाने वाले कई कवि व उपासक हुए, जिनमें अमीर खुसरो, मलिक मोहम्मद जायसी, मुल्ला दाऊद, नंद दास ईश्वर दास, बुल्लेशाह, बाबा फरीद और लालन शाह फकीर आदि ऐसे अनेक सूफी आध्यात्मिक परंपरा के साधक व कवि रहे हैं। इन साधकों की यह विशेषता रही है कि ये सभी भारतीय परिवेश, परंपरा, भाषा और कथानकों को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इतना ही नहीं भारतीय काव्य



मैं कहता आँखिन देखी

छंदों और संगीत की राग-रागिनियों को भी न केवल पूरी तरह आत्मसात् किया, अपितु उसे जनसाधारण की बोली-वानी में प्रस्तुत कर उसकी ग्राह्यता को और भी सहज बनाया। अपरिचय की हर संभावना को समाज की जड़ से मिटाने का सच्चा प्रयास किया।

लालन शाह फकीर अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वी भारत (बंगाल, बांग्लादेश) के सबसे ज्वाल्म्यमान व सामादृत कवि, गायक, संगीतकार, समाज सुधारक और संत परंपरा के महान साधक थे। वे चैतन्य महाप्रभु की परंपरा के संभवतः सबसे समादृत आध्यात्मिक फकीर थे। बांग्लादेश का तो उन्हें आईकान माना जाता है। उनमें कविता, संगीत, दाशनिक चिंतन और समाज-सुधार की लौ मृत्यु पर्यंत प्रज्वलित होती रही। उनके गीत आज भी अखिल बंगाल में जन-जन के कंठहार बने हुए हैं। लालन शाह वाऊल संप्रदाय के शीर्ष कवि व गायक थे। वाऊल पंथ की विशेषता है यह कि उसमें भारतीय साधना के बौद्ध धर्म का सहजिया मार्ग, सूफी संम्रदाय का प्रेम तत्व और वैष्णव मार्ग की भक्ति, जैसे दाशनिक व भाव तत्व शामिल हैं। वाऊल संप्रदाय में इन सबका उत्कृष्ट समन्वय दिखाई देता है। यहां साधना के उक्त तृ-तत्व न केवल शामिल हैं, अपितु जीवन व्यवहार में भी व्यवहृत होते रहे हैं। लालन शाह अपने गीतों में इन तीनों तत्वों के आत्म तत्व को प्रस्तुत करते हैं। उनके गीत कवीर वाणी की तरह आज भी लोगों को सन्मार्ग पर चलने को प्रेरित करते हैं। उनके यहां भी आध्यात्मिकता और समाजिक परिष्कार का स्वर एक साथ दिखाई देता है। “संगीत ही उनकी साधना का माध्यम और उनके दर्शन का संदेश वाहक था।” बंगाल में उनकी स्वीकृति धर्म, संम्रदाय, जाति, क्षेत्र आदि से कहीं ऊपर है। उनके शिष्य व श्रद्धालु सभी जातियों व धर्मों के लोग हैं। इस देश में लालन शाह जैसी स्वीकृति नानक व कवीर को ही मिली है। अपने सौ वर्ष से ऊपर के जीवन में उन्होंने हजारों गीतों की रचना की। उनके गीतों में अद्भुत काव्य रस, संगीत का



में कहता आँखिन देखी

अलौकिक माधुर्य और जीवन दर्शन का गूढ तत्व, सामाजिक कुरीतियों की आलोचना और समाज सुधार पर अत्यधिक बल दिया गया है। उनके यहां ज्ञान की निर्मल त्रिवेणी अविरल प्रवाहित होती रहती है। कहते हैं लालन शाह का जन्म बंगाल के एक कायस्थ परिवार में हुआ था। बचपन में ही लालन शाह चेचक के प्रकोप में आ गए, जिससे उनकी एक आंख भी जाती रही। संक्रामक पुत्र को छोड़कर उनके माता-पिता कहीं और चले गए। कहते हैं सिराज साईं नामक संत ने उन्हें अपनाया, उनकी चिकित्सा की और उन्हें अपना शिष्य बना लिया। इस तरह से लालन शाह में आध्यात्मिक चेतना के अंकुर फूटे। लालन शाह बंगाल की मिली-जुली संस्कृति के चाहक-भावक बने। कवीर की तरह वे भी औपचारिक रूप से पढ़े-लिखे नहीं थे। वे वाचिक परंपरा के वे अपूर्व गायक व साधक थे। लालन शाह फकीर समूचे बंगाल विशेष कर बांग्लादेश की उपास्य प्रतिमा हैं। लालन शाह ने आजीवन साम्प्रदायिक सौहार्द और मनुष्य की गरिमा को प्रतिष्ठित करने का स्तुत्य कार्य किया।

भारतीय विदेश सेवा के पूर्व राजनयिक तथा भारत सरकार के पूर्व विदेश सचिव व अर्थशास्त्री श्री मुचकुंद दूवे ने लालन शाह के एक सौ पांच चुनिंदा गीतों का बेहतरीन संकलन हिन्दी के पाठकों व आध्यात्मिकता में रुचि रखनेवालों के लिए प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में लालन शाह के व्यक्तित्व व उनकी साधना पद्धति पर विस्तार से चर्चा की गई है। लालन शाह के प्रशंसकों में कविकुल गुरु रवीन्द्र नाथ टैगोर, क्षितिमोहन सेन, हजारी प्रसाद द्विवेदी आनंद शंकर राय के अलावा बांग्लादेश के अनगिनत बौद्धिक और चिंतक हैं। लेखक ने बड़े परिश्रम व रुचि से लालन शाह के गीतों का चयन व अनुवाद किया है। लेखक ने अपने अनुवाद में भी उसकी सांगीतात्मकता व गेयता बरकरार रखी है। अपनी भूमिका में लेखक कहता है कि जब वे बांग्लादेश में भारत के उच्चायुक्त थे तब उन्हें लालन के गीतों को गायिका “फरीदा परवीन” से सुनने का

हिंदी

संभाषण



मैं कहता आँखिन देखी

कलीब

५९



मैं कहता आँखिन देखी

अवसर मिला। लेखक उन गीतों को सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि उनके बारे में जानने समझने का तत्क्षण संकल्प ले लिया और उनके अध्ययन का सिलसिला शुरू हो गया। वर्षों के अध्ययन व शोध के बाद यह संकलन तैयार हुआ है। लेखक ने अपनी भूमिका में लालन के हर पक्ष को बड़ी ही गंभीरता व प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है। लेखक ने पूर्वी बंगाल की बोली भाषा के अंतर व विशेषताओं को सूक्ष्मता से समझा ताकि अनुवाद में किसी तरह की असंगति न रहे। पुस्तक में जहां एक तरफ लालन शाह के संदर्भ में कई किंवदंतियों को स्थान दिया गया है, वहीं दूसरी ओर इसके साथ-साथ उनकी समीक्षा भी की गई है। पुस्तक में बांग्ला लिपि में उनके गीत हैं, फिर उसी बांग्ला गीत को देवनागरी में प्रस्तुत किया गया है और अंत में उसका काव्यानुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया गया है। इस तरह बांग्ला भाषी भी इस पुस्तक का सुधा पान कर सकते हैं। लालन शाह के विशेषज्ञ श्री आनन्द शंकर का कहना बेहद सटीक व महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं “बंगाल के नव जागरण में शिक्षित वर्गों के बीच जो भूमिका राजाराम मोहन राय की थी, वहीं भूमिका अशिक्षित ग्रामीण लोगों के बीच लालन शाह के गीतों की थी। लालन शाह ने इन इलाकों में फैले अंधकार में प्रदीप जलाया।” इस पुस्तक का महत्व इसलिए भी है कि वह हिन्दी भाषा को देश की विभिन्न भाषासंस्कृतियों की उत्कृष्ट रचनाशीलता से समृद्ध करती है।

Kabir: Text and Context

● Divya Jyoti

“

पाहन पूजे हरि मिले
तो मैं पूजूं पहार।
ताते या चाकी भली
पीस खाय संसार।।

”



मैं कहता आँखिन देखी

Introduction

Kabir is one of the most important figures in the religious and political history of India. To many he comes across as a social reformer, while others consider him to be the champion of Hindu-Muslim unity. Yet for many others Kabir was an 'indigenous modern' who laid the foundation of modernity in India¹. He was a Muslim pir for some and Hindu sant² for others. He was a Sufi and he was a yogi; he was claimed by all yet he belonged to no one. Kabir was always shrouded in the mystery of mysticism. Kabir has been interpreted as someone who is putting across the idea of a critical and moral individual who seeks communion with God not

¹Scholars like Purshottam Aggarwal and Vinay Dharwadker have argued that Kabir was the initiator of indigenous modern. The idea of Kabir as an indigenous modern has its roots in the writings of Hazariprasad Dwivedi, latter developed by Purshottam Aggarwal. For further understanding see Purshottam Aggarwal, *Akath Kahani Prem ki Kabir ki Kavita aur Unka Samay*, (New Delhi: Rajkamal Prakashan, 2009).

² Charlotte Vaudeville, *A weaver named Kabir: selected verses with a detailed biographical and historical Introduction*, Vol. 6, (USA: Oxford University Press, 1993), p.11.

through the socially constructed and organized religion but someone who shares a personal and direct connection with the one who created them. This allows an individual to rationally analyze the doctrines in understanding the 'Supreme Being' rather than being dictated by the principles of organized rituals. The aim is to realize that the Supreme Being might be Allah or Ram for some and Devi for others but there is no difference between God and human being as God is existent in all human beings.

There exists difference of opinion amongst the scholars regarding Kabir's birth, death and place of birth. Dr. Dharamvir claims that the dates ascribed to Kabir by most of the Hindi scholars are not scientific and hence argues that the birth of Kabir should be decided by deciding the date of death. The date of death therefore ascribed is in 1505 because if one finds the mention of Kabir in Ain-e-Akbari which was written in 1596 one needs to rethink the dates of death in 1549, 1569 and 1575.³ Even David Lorenzen uses the same methodology but arrives at different conclusion of giving Kabir the time span of 1398 to 1518 relying heavily on Anantadas's Parchai. He simultaneously rejects the time span associated to Kabir by Parshuram Chaturvedi and Charlotte Vaudeville again keeping the dates ascribed in Anantadas's Parchai.

The following paper seeks to contextualize and critically analyze the debates on Kabir's identity and language and his criticism of institutional religion. Through this analysis one can conclude that Kabir's corpus was giving rise to a critical individual. For this purpose therefore, I wish to begin the paper, first by discussing the Hagiographies which forms an essential source in understanding the socio-religious context of Kabir and gives us insight into the prevalent ideologies of that time.

³ Dr. Dharamvir, *Kabir Ke Alochak*, (New Delhi: Vani Prakashan, 2015), pp. 16-24.



मैं कहता आँखिन देखी

Hagiography, History and Politics

What one knows about Kabir's life is through the stories that are written in his hagiographies or as one calls them the 'sacred biographies'. Often the criticism that comes to mind while reading hagiographies is that they are written from a theological perspective and hence tends to venerate the protagonist as 'sacred', thereby giving hagiographies the place of a religious text. However scholars like Christian Lee Novetzke urge one to think that one can identify historical aspects, as the sacred figures exists alongside the empires and state, in the hagiographies like in other secular texts—chronicles and court documents. Therefore "if one can accept these two operations at work within hagiography—the historiographic and the theographic—it suggests, in essence, that hagiography contains the same complex arrangements of textures that we find throughout other South Asian textual sources. This reveals to us how sacred biography is a multifaceted narrative about the past that has served multiple purposes and innumerable publics over centuries in South Asia".⁴ It is important to keep in mind though that these narratives are retrospective, they began appearing from the beginning of the seventeenth century. Moreover, they have not come to us directly, but mediated by an oral and manuscript tradition. The hagiographies show not only how the author and his community imagined the saint but also how they imagined themselves. In the process of narration, for example we find that Kabir engages with the temporal authorities and the religious authorities (for instance Sultan Lodi who was the sultan of Delhi), which is not to show his superiority but to show how religious figures were engaging with the state and the masses. This account of hagiography cannot only be seen as sacred and



मैं कहता आँखिन देखी

⁴Christian Lee Novetzke, "The Theographic and the Historiographic in an Indian Sacred Life Story", *Sikh Formations*, Routledge, Vol.3, Issue No.2, (December, 2007): pp. 169-184.



मैं कहता आँखिन देखी

historical but political in nature, where the engagement with the ruling authorities is giving rise to the political values of deliberation, accountability and dissent. When Kabir was brought to Sultan Lodi, he had refused to bow down in front of the sultan. This angered the sultan and in return he ordered to kill him by various means. However Kabir surpassed all the dangers and was yet safe⁵. Hence one can see the seeds of dissent in the mentioned story. This story is also reflective of the power structure that operates between the ruler and the ruled; hence this can be seen as an example of not only dissent but a kind of rationality that allows one to question the authority in the power. Therefore the different dimensions, apart from only being sacred, that are present in the hagiographies, makes them an important part of the study. Hagiographies of Kabir therefore form an important part in understanding his socio-religious, historical and political context.

Thirteenth century saw the emergence of the independent Muslim ruler Qutub-din-Aibak, who ruled the Delhi Sultanate⁶. With the advent of Muslim rulers one sees the emergence of Muslim Sufis and missionaries who gradually were able to make their presence stronger among the various Indian communities. The presence was stronger amongst the lower castes especially Julahas which had converted to Islam in the between twelfth and fourteenth centuries.⁷ According to H.H. Risley's work 'The People of India' one finds the categorization of Indian Muslims into Sayyeds, Pathans and Julahas. Kabir was born in a Julaha caste of weavers. Though to view him as a Hindu, many scholars have claimed that he was born to a Brahmin mother who

⁵David N Lorenzen, *Kabir legends and Ananta-das's Kabir Parachai*, (New Delhi: SUNY Press, 1992), pp.32-35.

⁶ Irfan Habib, *Medieval India: the study of civilization*, (India: National Book Trust, 2008), pp.175-178.

⁷ Vaudeville, *A weaver named Kabir: selected verses with a detailed biographical and historical Introduction*, pp. 67-78.

had abandoned him and later was adopted by a Muslim couple belonging to Julaha community. For instance, it is evident from the texts of Brahmalinamuni's 'Sadgurushrikaviracharitam' and Gangasharan Shastri's 'Kabir Jivanacharitra' which tries to interpret the legends associated with Kabir within a pro-Brahman and anti-Muslim identity⁸. The Julaha community who were the converts from Hinduism to Islam, constituted the lower strata or the Shudra caste of the Hindu caste order. At that point of time in the northern, western and eastern regions of India, the influence of Buddhism and Jainism had ignited the spirit of being treated equally amongst the lower castes. This was further strengthened by the advent of Islam in India. However it is important to understand that the conversions did not lead to the upward mobility of the low castes. So why were people converting from Hinduism and adopting Islam or Buddhism is an important question. One possible explanation which is offered by Charlotte Vaudeville is that these conversions can be seen as a form of rebellion and protest against the dominant Hindu caste system. The seed of dissent was sown after seeing the practices in Buddhism and Islam where the hierarchies based on caste and caste system were not present⁹. However one must be careful while talking about conversion because conversion to Islam meant temporary liberation from the caste system of Hinduism and that vertical mobility was difficult to achieve in Islam too where converts were made to work as domestic servants, artisan and as labourers.¹⁰ It is interesting to see that the free converts were infused along with the immigrants and slaves in the Islam, however this process of conversion by a large group is still



मैं कहता आँखिन देखी

⁸ Lorenzen, *Kabir legends and Ananta-das's Kabir Parachai*, pp. 20-22.

⁹ Vaudeville, *A weaver named Kabir: selected verses with a detailed biographical and historical Introduction*, pp. 67-78.

¹⁰ Irfan Habib, "Medieval Popular Monotheism and Its Humanism: The Historical Setting", *Social Scientist*, Vol 21, Issue No 3/4, (1993): p. 81.



मैं कहता आँखिन देखी

obscure because the customs and rituals of the caste system would have continued until the imposition of Sharia which would have diluted the earlier constraints of caste system and Kabir belonged to such group of weavers in transition.¹¹ The period between twelfth and the fifteenth century also saw an amalgamation of Nath Yogis and Sufi culture. P.D. Barthwal argues that the mixing of Sufis and Sants had brought about a syncretic culture earning respects from both the Hindus and Muslims.

The anti-caste and monotheistic forms of worships found resonance with the other sects such as the Nath Yogis and Muslims which has led many literary scholars like Hazari Prasad Dwivedi to claim that Kabir was a Muslim and was influenced by the tradition of Nath Yogis. However this needs serious investigation because Kabir's own utterances show that he was against any form of organized sects:

"The Jogi cries: Gorakh, Gorakh! The Hindu invokes the Name of Ram, The Mussalman cries: Khuda is One! But the lord of Kabir pervades all."¹²

One might argue therefore that Kabir's idea of Bhakti was centered on an individual who is not blinded by the rituals and ceremonies of institutionalized religions or various other sects. It is then possible to argue that he was proposing a case for a critical individual who seeks communion with the Supreme Being on his/her personal terms. Scholars like Vaudeville have argued that Kabir was arguing a case for an interior religion¹³. But whether Kabir was talking about religion at all is an important question. Another question is whether he was making a distinction between religiosity and

¹¹Habib, "Medieval Popular Monotheism and Its Humanism: The Historical Setting", p. 82.

¹² Vaudeville, *A weaver named Kabir: selected verses with a detailed biographical and historical Introduction*, p. 76.

¹³ By interior religion Vaudeville means, that Kabir emphasized on the importance of the 'interior experience', rather than delving in any kind of exterior forms of religion. Therefore she argues that this shows the amalgamated influence of the 'Bhakti', nath yogis and Sufi thought on Kabir.

spirituality? Kabir does talk about grounding knowledge of truth and the Supreme Being within an individual so that God is to be found within. However his question "whether Rama is greater or the mind that knows him?" makes one go beyond the interiority of the divine.¹⁴ This is because he is arguing against the Ram which is the creation of human beings and the one which is consciously created by the institutionalized religions.

Thus calling it an 'interior religion' is problematic because firstly it is derived from the Christian spirituality and secondly would be falling into the same trap as modern day Kabir panthi's have, that is of forming themselves into an organized sect and establishing principles of avatars and various other doctrines to venerate Kabir as their master. Though, one may agree with Vaudeville's conception of 'interiority' which focused on establishing a relation with the cosmos and god from within. Rather than interiority, for Kabir it is the internalization of an ethical divine force which requires human beings to act morally and reasonably. For Kabir this internalization is not achieved by chanting the mantras along with the telling of beads but through 'sumiran' that is remembering God in each and every breath one takes. The interiority of divine invokes only the man's relation with the cosmos but through the internalization (for which Kabir argues) one can see invoking of moral self which is incompatible with the materiality and divisiveness of the outside world.

While describing the biography of Kabir it becomes important to make a distinction between the actual historical facts and the hagiographies such as those by the Kabir panth. As rightly pointed out by David Lorenzen, the legends reflect the 'socio-religious', 'psychological', 'political and 'economic' needs of the society. This enables us to

¹⁴ Gail Omvedt, *Seeking begumpura*, (New Delhi: Navyana Pub., 2008), p.98.



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

critically analyze the legends of saints or any famous personality. One therefore needs to look at not only what has been mentioned but what has 'not' been mentioned. There is an observable trend one can notice in these hagiographies. This trend is that of the reversal of the prevalent power structure, the desire of overthrowing the powerful by the powerless and envisioning an alternative society which is premised on the visions of the poor and powerless. However these legends play a crucial role in understanding the values and shared past of various communities and in this case that of the Kabir panth. The literature that is available to us from the Kabir panthi's¹⁵ has venerated Kabir as the knower of ultimate truth and an avatar of the spiritual being. Kabir here is celebrated nothing less than God, Allah or Ram. These legends about Kabir are a part of the religious faith, identity and ideology for the followers of Kabir¹⁶.

The biographical account of Kabir becomes important for us to understand the fact that Kabir has been appropriated by not only Hindus and Muslims but also by Christians and Sikhs. That is why the charge of interiority should be linked to this point, as Vaudeville is making it from a western point of view. Kabir's verses show a remarkable influence of the 'nath yogis' and 'Sufi's' too. According to religious scholar Grierson "Kabir's doctrine of word (sabda) is a remarkable copy of the opening verses of the St. John's Gospel"¹⁷. This has also been agreed to by G.H. Westcott. However this seems quite disturbing that Grierson uses the words 'remarkable copy' rather than 'remarkable similarity' because

¹⁵Anurag sagar is one the text composed by the Kabir panthi's in which Kabir is described as avatar of the Supreme Being. Kabir through his spiritual knowledge is able to liberate the masses from the clutches of 'kaal' or 'niranjan'. This book also lays the foundation of seven principles which the followers of Kabir should adhere to.

¹⁶ Lorenzen, *Kabir legends and Ananta-das's Kabir Parachai*, pp. 4-6.

¹⁷ Vaudeville, *A weaver named Kabir: selected verses with a detailed biographical and historical Introduction*, pp. 24-25.

there are no records of Kabir encountering a Christian missionary in his life. Though other scholars like Nicol Macnicol have argued that the influence of Christianity on Kabir and Kabir panth is not a matter upon which they can dogmatize based on the similarities one finds in both the traditions.¹⁸ There are texts like Ain-i-Akbari that talks about Kabir being a Muwahhid-the one who believes in unity of God and thus refuses to accept Kabir as 'musalman' because of the fact that Kabir was against the orthodoxies of Islam as well¹⁹. One can think on the lines that this appropriation of Kabir's corpus is nothing but the 'subjugation of the knowledge'²⁰ that Kabir was trying to impart. The various accounts, as already mentioned above, that associate Kabir with the dominant discourses is basically trying to fit him within that frame rather than understanding him in his own context. For instance certain works like 'Khazinat-ul-Asafiya' mentions that Kabir is a Sufi and the disciple of Shaykh Taqqi²¹. However we find in Bijak a verse that rejects the religion of Taqqi:

"Through Manikpur, Kabir had passed, There he heard of the fame of Shayk Taqqi. At the places which they call Jaunpur And at Jhusi he heard the names of pirs: There are written the names of the twenty-one pirs, People read the khatma and sing the prophet's praise. Hearing that talk, I could not restrain myself, Seeing those graves, I was bewildered: The works prescribed by that friend of god and that prophet, And all their commands is—all that is unlawful! O Shaykh Aqardi, O Shaykh Saqardi, Listen to my words: With open eyes, consider The beginning and the end And the succession of ages"²²

¹⁸Vaudeville, *A weaver named Kabir: selected verses with a detailed biographical and historical Introduction*, p. 25.

¹⁹Vaudeville, *A weaver named Kabir: selected verses with a detailed biographical and historical Introduction*, pp. 20-21.

²⁰ Michel Foucault, 'Space, Knowledge and Power', in Paul Rabinow ed., *The Foucault Reader*, (New York: Pantheon, 1984), pp 239-245.

²¹Vaudeville. *A weaver named Kabir: selected verses with a detailed biographical and historical Introduction*, pp. 78-87.

²²Vaudeville. *A weaver named Kabir: selected verses with a detailed biographical and historical Introduction*, pp. 78-87.



मैं कहता आँखिन देखी

Therefore appropriation has rather become subjugation (of his preaching's) in a sense that in order to prove the dominant discourse's doctrines his ideas have been subdued under the frame of either Christianity, Hinduism, Islam, Sufism, yogic traditions and Buddhism.

Kabir's Critique of Rituals and Ceremony

It is interesting to see here that the Kabir was not adopting any particular religion or even being influenced by it. One might say that the doctrines or principles he thought to be rational were used by him to focus upon an individual who critically establishes the relationship with the Supreme Being and does not fall into the trap of rituals and ceremonies created by the organized religions. One often forgets that in this era of institutionalized religions where rituals are also institutionalized, distinctions are created among the individuals on the basis of it. For rituals are the manifestations of power of a certain class, caste, race and sex over the other. Various rituals often create a distinction among the individual bodies such as being identified as a Hindu with a janeyu or a Muslim with a circumcision. Different rituals relating to diet, dressing, sexuality and devotion are a representation of a highly stratified society and simultaneously are a site for contestation of cultural power²³. Kabir vehemently criticized institutionalized religion²⁴. What religion offers us today are the prescriptions in the form of rituals in order to access the Supreme Being. 'It' is inaccessible as long as one keeps themselves entangled in these rituals. For the only way one can access 'It' is through love for the fellow beings. In Kabir's poems one often finds examples of how a



मैं कहता आँखिन देखी

²³ Robert Fuller, "Religion and Body", *Oxford Research Encyclopedia of Religion*, March 2015, accessed on 28th May 2017: pp.4-7.

doi: 10.1093/acrefore/9780199340378.013.18.

²⁴ Religion, which is based on a book and prescribes certain set of rules and conduct.

ritual often constructs the 'body' which is distinguishable from the other in a sense that it gives different appearance to the humans which technically are of the same origins, for instance:

"I'd say this through a megaphone If I had one:
Look at these men. Shaven heads, Great big earrings, Ash-smear'd bodies, But inside they are empty As a house that's been cleaned out by thieves. And look at these others in the best part of town, Who forget that when death slips its noose round their necks To drag them through the streets it won't be pretty. I live in Fearlessburg, Kabir the weaver says. It's builder? Rama"²⁵.

Kabir in this poem is arguing that God cannot be achieved through a particular style of dressing up of the body. With shaven heads and big earrings one can only decorate the body which is empty from inside. Therefore Kabir's religion focuses on the internalization of belief and faith rather than the faith facilitated by exterior and material environment. God is to be found within and not outside. The fear of death lingers around those who does not dwell 'Rama' within. Echoing the same contention is Kabir's another poem mentioned below, where he argues that salvation cannot be achieved through shaving off heads, roaming naked and by castration.

Kabir in the following poem launches a strong criticism of practice of asceticism. Asceticism is the disciplining of body through performance of yoga, modification in the dietary habits and practicing hours and hours of meditation. But Kabir argues that by performing such disciplines and not controlling the covetousness of the mind one will never be able to unite with Rama. Salvation can be achieved only by remembering God.

"If going naked Brought liberation, The deer of the forest would attain it first. If a shaven head was a sign of piety, Ewes would be pious too. If holding back the semen Brought you closer to heaven, A steer would lead the way. There is no



मैं कहता आँखिन देखी

²⁵ Arvind Krishna Mehrotra (trans), *Essential Kabir Special Bilingual Edition*, (India: Hachette Book Publishing, 2011), p. 25.

salvation Without Rama, says Kabir, Not to know it is really dumb.²⁶

The above two poems clearly shows, that rituals and faith have been entwined in such a manner that the performance of rituals serve as a medium to establish connection with the divine. The faith therefore which is to be placed in the Divine is placed upon the Rituals. They are artificially created tools of religion that are being used as a coping mechanism (from grief), beginning of a new life/work, basically an important aspect of one's everyday lives. Though these rituals maybe important to remind us of super natural's existence, however over a period of time it has created binaries between the individual bodies. Rituals enable us to identify individuals as a Hindu, Muslim, Christian and a Sikh body, where a *janeyu* (sacred thread around the bodies of Brahmins), circumcision and turban etc marks the difference. Religion uses ritual as a disciplining tool to produce religious subjects. The sacredness of the religion derives itself from the practice of these rituals because the performance and non performance of rituals creates the fear of auspicious and inauspicious events to take place. The pundits for instance often encourage people to perform yagnas for the peace and prosperity of the household. The performance of these intricate rituals to invite cosmic authority to bless the individual seems confusing. The functions of the rituals spans from salvation of soul to enabling an individual to live a happy life both of which seems contradictory. If the purpose of the rituals is liberation of the soul then why finding means to keep it on earth separating it from the super natural. Therefore it is important to denounce these external observances and simultaneously focus on the interior prospects of human-self, which frees one from the clutches of irrationality of rituals and religion.

"Hindus keep fast on ekadasi, they eat only singhara and milk. They abstain from grain, but do

²⁶ Mehrotra, *Essential Kabir Special Bilingual Edition*, p. 27.



मैं कहता आँखिन देखी

not control the mind's desire. Next day they eat the flesh of beasts. Turks keep fast and hours of prayer; they cry aloud in the name of god. How will they find paradise? When evening comes they slaughter fowls. Devotion, sacrifice and rosary, piety, pilgrimage, fasting and alms. Nine bhaktis, Vedas, the Book (the Quran), All these are the cloaks of falsehood. O mind you make your gods and goddesses...If by circumcision one becomes turk, What then will be said of your woman? 'Half the body', so the wife is styled; Then you will remain hindu! By putting on the sared thread, Does one become a Brahman? What hast thou given to women to wear? She from birth is but a sudra! Why dost thou eat that food she brings, o Pundit?"²⁷

Another important aspect associated with rituals is the concept of purity and impurity. According to Mary Douglas body is not merely a physical entity but represents the entire social structure. The body is representative of complex societal structures for example a Dalit body which apart from symbolizing its caste also represents a different culture altogether. Religion and rituals produces this social structure that comes to be symbolized in the body of an individual. The very notion of getting polluted by the touch or sight of a low caste or Muslim signifies how rituals shape body. A body of a Brahmin is different from the body of a Dalit and a body of a Hindu is different from a Muslim body. The very practice of Wudhu in Muslims is a bathing ritual which provides for the purity of the body. The body becomes impure if one has a physical contact with other, bleeding of a body part, defecation or urination etc. Brahmins maintain the purity of the body by not seeing or touching low castes, taking bath in Ganga River and wearing janeyu. All these rituals associated with maintaining purity is nothing but shaping a pure body as distinct from impure

²⁷Baidyanath Saraswati, "Notes on Kabir: A Non-Literate Intellectual" , in *Dissent, Protest, and Reform in Indian Civilization*, ed. Subhash Chandra Mali, (Simla: Indian Institute of Advanced Study, 1977), p. 170.



मैं कहता आँखिन देखी

one. It is here that Kabir argues:

“Tell me, O Pundit, what place is pure- Where I can sit and eat my meal? Mother was impure, father was impure- The fruits they bore were also impure. They arrived impure, they left impure- Unlucky folks, they died impure. My tongue’s impure, my words are impure, My ears, my eyes, they are all impure- You Brahmins, you’ve stolen the fire, But you can’t burn off the impurity of senses! The fire, too is impure, the water’s impure- So even the kitchen’s nothing but impure. The ladle’s impure that serves a meal, And they are impure who sit and eat their fill. Cowdung’s impure, the bathing square’s impure- It’s very curbs are nothing but impure. Kabir says, only they are pure Who’ve cleansed their thinking”²⁸

The poem criticizes the exterior notion of Hindu ritual of purity and argues that purity should be interior. The cleaning of the thought rather than the body makes one pure. Purity is not achieved through water and soap but by cleansing the self of the vicious desires and passions.

Kabir out rightly rejected the artificial binaries created by the caste system by saying:

“I and you are of one blood, And one life animates us both. From one mother is the world born. What knowledge is this which makes us separate? All have come from the same country And have at one ghat; But the evil influence of this world Has divided us into innumerable sects”²⁹

Through the rejection of these notions of purity and impurity which creates inequality in the society Kabir puts forth the idea of social equality which primarily focuses on the birth of an individual rather than the birth of an individual.

“O saintly men, Don’t ask the man Devoted to the god without qualities What his caste is. The brahmin’s good, The warrior’s good, The trader’s caste is good. The thirty six clans, they are all good- It’s your question then that is crooked, The barber’s good, The washerman’s good, The



मैं कहता आँखिन देखी

²⁸ Vinay Dharwadker, *The Weaver’s Songs*, (India: Penguin Books, 2003), p. 21.

²⁹ Dharwadker, *The Weaver’s Songs*, p. 22.

carpenter's caste is good. Raidas, the saint, was good, Supach, the seer, was good—Though they were scavengers. Both hindus and turks Have demeaned themselves—They can fathom nothing"³⁰.

Caste here is being looked at as an overarching structure and Kabir is arguing that since caste system is good then all its parts (all the castes) are equivalently good. The poem is unusual in a sense that it is embracing the logic of caste system just to defeat its internal logic³¹. Further Vinay Dharwadker argues that "the negative implication is that, if Hindus and Muslims establish internally differentiated societies, but fail to apply their principles of differentiation consistently, their principles as well as their social orders must be debased, in which case their systems of inequality must be fundamentally wrong". In another poem Kabir rejects the binaries created on the basis of religion, caste and gender and argues that they are manmade creations. The body of an individual is being constructed socially and ideologically on the basis of religion and caste. He further adds that there is no distinction between male or female body and Brahmin or a shudra body. The problem is that we tend to look at body as a cause to further some end. Kabir argues that body is an effect and not cause. Moreover the origin of human beings comes from a common source so the binaries are artificial. A striking feature of Kabir's poetry is that it tries to show us the power religion exerts over individuals. Through the prescriptions in the form of rituals it tries to shape the body.

Kabir through his preaching's also tries to bring out the 'unresolvable dilemma in the Hindu and Muslim theology and ritual practice'³². In the following poem Kabir asks which is greater, an effect

³⁰Dharwadker, *The Weaver's Songs*, p. 196.

³¹These types of poems are called 'ulatbamsi' and this style was peculiar to Kabir's utterances, for instance 'son of a barren woman'. This style is paradoxical in nature.

³²Dharwadker, *The Weaver's Songs*, pp. 222-223



मैं कहता आँखिन देखी

or a cause, a knowing subject or an object of knowledge³³.

“If you love your followers, rama, Settle this quarrel, once and for all. Is brahma greater, or where he came from? Is the veda greater or its origin? Is the mind greater or what it believes in is rama greater, or the one who knows him? Kabir says, I’ m in despair. Which is greater? The pilgrim station, or Hari’s devoted slave?”³⁴

This forces us to think that whether religion is greater or the knowledge it produces. Over a period of time knowledge produced by religion has acquired a greater significance. The knowledge of one religion is considered to be superior to the other. It is important to ask a question here that what knowledge is this that separates human beings. Is the doer separate from his/her actions? Kabir argues:

“O saints, The doer is different from his deeds. He doesn’t come and go, he doesn’t die, He isn’t born- think this over with a cool mind...creator and creation stand apart. Just as a cause is held back From its consequence, So is my lord and lover from me. Kabir says, The doer isn’t the one Who has gone and sold himself As a slave to his deeds.”³⁵

Kabir here is arguing that a doer is different from his/her actions and the cause is detached from the consequences. This is where his idea of ‘true self’³⁶ comes in. He argues that one needs to make a distinction between what a person does and what he actually is. However this is contradictory to the karma theory which identifies the agent and his deeds identical. This is often the justification given for purity, impurity and the untouchability in Hindu philosophy. Through his rejection of the Karma theory, one can again see Kabir attacking these exterior notions and rituals of purity and impurity and

³³Dharwadker, *The Weaver’s Songs*, pp. 222-223.

³⁴Dharwadker, *The Weaver’s Songs*, p. 144.

³⁵ Dharwadker, *The Weaver’s Songs*, pp. 226-227.

³⁶ I have still not able to comprehend the idea of ‘true self’. But what one can think is that true self according to Kabir is the manifestation of god himself. Therefore for him god dwells in every human being.



मैं कहता आँखिन देखी

instead encouraging one to look at the 'true self', the interior of the being. The exterior is shaped by the religion and its rituals, but what is an innate need to be seen and recognized. The 'true self' according to Kabir is a 'simple state' or 'sahaj sthiti'. One therefore needs to go beyond this bodily existence (religion, rituals, caste) yet recognizing the power they have in shaping us (the body) and then rejecting them.

"The ineffable tale Of that final simple state:
It's utterly different. It can't be weighed on a
scale, Can't be whittled down. It doesn't feel
heavy And doesn't feel light. It has no rain, no
sea, No sun, no shade. It doesn't contain creation
or destruction. No life, no death exists in it, No
grief, no joy. Both solitude and blissful union
Are absent from it. It has no up or down, no high or
low. It doesn't contain either night or day. There is
no water, no air, No fire that flares again and again.
The true master permeates everything there. The
eternal one remains unmoving, imperceptible,
unknowable. You can attain him with the guru's
grace. Kabir says, sacrifice yourself to the guru,
And remain ensconced in the true community."³⁷

Bhakti, Supreme Being and the Rise of the Critical Individual

Through all of this one can see that Kabir, by rejecting organized religions and caste distinctions, was trying to present an idea of an individual whose rationality triumphs over the socially constructed doctrines³⁸. However the irony is that whatever Kabir was trying to argue or whatever he stood for was either misunderstood or appropriated to give legitimacy to individual doctrines. Years after his death one can see the emergence of an organized sect called the Kabir Panth (though Kabir vociferously attacked any kind of institutionalized sects or organizations) that now operates on the

³⁷ Dharwadker, *The Weaver's Songs*, pp. 101.

³⁸ By 'socially constructed doctrines' here I mean is the organized religion and its rituals, along with the order that creates distinctions among individuals on the basis of caste.



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

doctrines of 'avatars' which believe that Kabir was an incarnation of the Supreme Being. This irony is also reflected in the legend about his death where the Hindus wanted to cremate the body while the Muslim followers wanted to bury it. The very ceremonial rites he was against, he himself was caught up in that. Therefore, as rightly pointed out by Purshottam Aggarwal, calling Kabir an apostle of Hindu and Muslim unity would be extremely problematic because the unity calls for the uncritical acceptance of both the religions³⁹. This calls for a critical analysis of the ideas of secularism and tolerance present in Kabir. He can be looked at as someone who was trying to establish a personal relationship with the Supreme Being based on love and equality. His idea of Bhakti was hinting at the outright rejection of the caste hierarchies and religious binaries. Kabir's idea of Bhakti was that of participation and of relating to the cosmic authority through the social experience⁴⁰. Rather than arguing for the unity of Hindu and Muslims he was arguing for oneness of Supreme Being. This oneness was to be achieved only by equality.

Apart from religion Kabir was also initiating a tradition of critical inquiry and interrogation⁴¹. This clearly shows the beginning of indigenous modernity or as Purshottam Aggarwal calls it 'deshaj adhunikta' which was witnessing the rise of critical individual and questioning the authority of organized religious structures. This, forces one to think how Kabir was different and ahead of his times?

Kabir through his poetry, unlike Tulsidas and Surdas, outrightly rejected the structure of varnashram or the caste system. Tulsidas, on the other hand had accepted the varnashram but on the basis of one's 'innate qualities', which favored the upper

³⁹ Purshottam Aggarwal, "But for Kabir in this Kaliyuga..", *India International Centre Quarterly*, Vol. 37, Issue.No. 2, (Autumn, 2010): pp. 36-45.

⁴⁰ Aggarwal, "But for Kabir in this Kaliyuga..", pp. 36-45.

⁴¹ Aggarwal, "But for Kabir in this Kaliyuga..", pp-36-45.

caste's perception.⁴² One of the features that marks the distinctiveness or uniqueness of Kabir was his staunch opposition to accepting the prevalent structures of caste system and institutionalized religion, which simultaneously places him ahead of his times. The conflict between the temporal and spiritual and the conflict with the authorities on religion, which is highlighted in Kabir, reflects the idea of dissent against the blind acceptance of both the authority of state and the authority of religion. Another feature that makes him distinct is his language. Most of Kabir's corpus has been orally transmitted which was later on written down by his disciples. One of his autobiographical verses clearly mentions that he was an illiterate—"Ink or paper, I never touched, nor did I take a pen in hand, the greatness of the four ages, I have described by the word of mouth"⁴³. Kabir preferred to spread his knowledge orally and which is in sync with his preaching's, where he rejects the authorities of religions based on the written words. The most important terms devised by Kabir were the sabda (the word), rama (ram) and nama (the name)⁴⁴, on which his entire experience with the social and spiritual was embedded. There are many verses that have been attributed to Kabir but, the authenticity of which is still in question. Therefore in order to understand Kabir it becomes important to analyze the way his utterances were composed and presented before the audience and why they gained so much popularity. His works mainly comprised of the sabda, dohas (a unit of strophic lines) and ramainis (short rhymed poems). These verses have been preserved in the regions of North India, Punjab and Rajasthan and UP and Bihar. The Adi Granth which is the sacred book of Sikhs, Kabir

⁴² Savitri Chandra Shobha, *Medieval India and Hindi bhakti poetry: A socio-cultural study*, (New Delhi: Har-Anand Publication, 1996), pp 180-194.

⁴³ Kabir, *The Bijak of Kabir*, trans. and ed. Linda Hess and Sukhdev Singh, (New York: OUP, 2002), pp-3-5.

⁴⁴ Kabir, *The Bijak of Kabir*, pp-3 to 5.



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

Granthavali and the Bijak respectively are the three major texts which contain the verses of Kabir⁴⁵. However Lorenzen has claimed that Anantadas's Kabir Parchai written in the seventeenth century is a systematic compilation of Kabir's legends.

As told by Hess that this oral tradition still flourishes amongst various sects of sadhus, villagers and across the subcontinent along with some 'dialectical alterations'. The uniqueness in the way these verses were composed that they are still flourishing today needs a careful analysis of their structure and nature. The point is that Kabir was a non-conformist and this is reflected through his language which was a 'language of bazaar'⁴⁶. Kabir's verses have been very provocative firstly because of their dialogic nature and that they establish a direct contact with the masses.

Milind Wakankar puts forth the question as to what makes Kabir important and unique till date. The very gift of his rough rhetoric and ability to reflect intellectual abilities is being tapped by the people living in the margins of the society. Therefore, is it the gift of memory or intellectual, political or social insights which makes Kabir easily malleable yet retaining its uniqueness which is being countersigned by many other individuals⁴⁷. Uniqueness lies in the fact how the readers are able to associate with Kabir, instead of the addressees in his verses. The picture he creates starts throwing questions, stirring one's consciousness and allowing one to relate the verses with their everyday lives. For instance when he talks about 'circumcision' or 'rosary beads', one can immediately draw a reference between a Hindu and a Muslim. This is how he creates a world

⁴⁵Kabir, *The Bijak of Kabir*, pp5 to 7.

⁴⁶ Vaudeville in her book 'A Weaver Named Kabir' argues that Kabir's language was that of non-conformity and that it was the language of bazaar, a language which was understandable by all and basically comprised of hindui.

⁴⁷ Milind Wakankar, "The Anomaly of Kabir" in, *Muslims, Dalits, and the fabrications of history*. Vol. 12, ed. Shail Mayaram, et al (New Delhi: Permanent Black, 2005), pp. 102-107.

understandable and inclusive of all.

Kabir is known for his scathing attacks on the institutionalized religions and its rituals and caste system. However one can see different Kabir's in the above mentioned three texts. Wherein the Guru Granth, one finds an 'emotional Kabir' who longs for the union with the God and adopts the role of a beggar or a servant and even a lover burning in the agony of separation. In the Bijak one can see Kabir taking the role of a teacher, challenging and invoking the consciousness of the disciples.⁴⁸ Kabir in all of his sayings appears as somebody who is questioning the embedded values of a society in an individual, thereby directly engaging with the consciousness of the beings and forcing them to step outside their securities (by 'securities', I mean the world where we are ready to gain anything but not to lose. A world full of delusions where one plays in the hands of profit and loss, greed of the materialist world stuck between the moral and immoral acts) and critically engage with them. Kabir's language has often been described as vulgar yet allusive and eloquent⁴⁹, a language associated with nath yogis⁵⁰ and other nirguni sects. Most of these verses were straight forward composed in 'sadhukhdi bhasha', while some were composed in ulatbamsi bhasha (language) which contains paradoxes that are ironical and amusing yet deeply insightful. The use of this ulatbamsi bhasha and sadhukhdi bhasha in the verses is to challenge a particular mode of thinking which is structured in a particular way. The dominance of Sanskrit in ancient and medieval India had created a world which was structured in a way accessible only to the few, learned (the Brahmins) sections of the society, while others (low castes) were denied the right to learning.

⁴⁸ Kabir, *The Bijak of Kabir*, p. 7.

⁴⁹ Charlotte Vaudeville refers to Kabir's language as vulgar yet elusive. For this see Vaudeville, *A Weaver Named Kabir*.

⁵⁰ Hazari Prasad Dwivedi, *Kabir*, (New Delhi: Rajkamal Prakashan, 2008), pp. 36-45.



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

The very fact that Kabir started composing in language which was accessible to all was a way of challenging this world of Sanskrit language which was exclusionary and unequal in its very nature. As argued by Linda Hess "Unceremoniously, he (Kabir) shows us actual human feeling, surrounds us with experience of delusion, makes vivid the fragmented nature of ordinary life. What unity there may be comes forth in flashes or in leaps from the disordered surface of the world to a momentary recognition: it is here, in every-body (ghat ghat me); something simple (sahaja); a single word (sabda)". The world created by Sanskrit language that is of unity was rejected by Kabir's unstructured style of verses. It can be argued that the basis of this unity, which Sanskrit language created, was the caste system and Sanskrit language mediated the relations of hierarchies, in a sense that the language of learned was Sanskrit who dictated the everyday organization of the society. By establishing a direct contact with the masses Kabir differed from Tulsidas, Surdas and Mirabai in whose preaching's there was a conversation with the god. This ability of directly engaging with the audience and invoking their consciousness has the element of rhetoric in Kabir's verses which has also been argued by Linda Hess⁵¹. Apart from this, one can think that Kabir was actually trying to engage with the reason and criticality of the minds of audiences. The verses are addressed in such a manner that immediately grasps the attention of the reader making him/her an active participant in the conversation forcing them to think, stirring in them confusion, dilemma, aggression, amusement, etc and then act. The verses/poems are therefore either in the form of provocative questions, riddles, dialogues and monologues.⁵² Hess argues that one can still discern a pattern in Kabir's corpus where the beginning of the poem is either a negation of something, a riddle, or a provocative question,

⁵¹Kabir, *The Bijak of Kabir*, pp. 5 -34.

⁵²Kabir, *The Bijak of Kabir*, pp. 15 to 20.

which grasps the attention of the audience immediately and latter leaving them with the space for contemplation.

“His social-satirical poems, his psychological probes, his poems about death, his crazy and paradoxical and mystical poems, do not inhabit separate categories. They are unified by a principle of radical honesty that sweeps through marketplace, temple, body and mind, that will no more allow you to delude yourself than to cheat others, to hack up the truth than to sever the head of an animal”⁵³

One may argue that this unique style of poetry coming from the medieval era not only enables us to see existing notions of rationality but enlightenment and modernity too. By leaving the space for contemplations, they actually allowed deeper insights into the existing societal problems of inequality, institutionalized religions and caste system. The corpus attributed to Kabir focuses on the individualistic rather than the collective entities, for instance when he vociferously rejects the credibility of religious texts and instead asks the individuals to have a direct link with God thereby destroying the roles of fake mediators (in this case maulvis and padits). However the pattern of poetry of Kabir is very different from the way works composed in Sanskrit. One of Kabir’s style include Ulat bamsi or the upside-down poems, the enunciation of whom are designed to break the binaries and tamper with the normalcy of thinking. The paradoxes reflected in his ‘Ulatbamsi’ are puzzling and at the same time have an important hidden message. For instance ‘an elephant is tied to the ant’s feet’ reflects that ant is the ‘mana’ that always runs after the pleasure whereas elephant is the atma which craves for God but is bounded by the mana⁵⁴. Scholars like Hazariprasad Dwivedi have argued that these ulatbamsi poems can be



मैं कहता आँखिन देखी

⁵³Kabir, *The Bijak of Kabir*, p. 21.

⁵⁴ Kabir, *The Bijak of Kabir*, p. 21.



मैं कहता आँखिन देखी

called 'Sandhabhasha' which is associated with the Nath yogis and tantric practices.⁵⁵ Scholars like Parshuram Chaturvedi have shown the link with the religious literature like Rigveda, Atharveda and Svetasvatara.⁵⁶ These poems are paradoxical in nature which puzzles the mind of a reader that at times they appear stupid but at the same time forces the reader to challenge the existing norms. For instance "lion and tiger are yoked to a plow, sowing rice in barren field" or "it's not a wild beast, brother, not a wild beast, but everyone eats the meat". The function of ulatbamsi therefore is not only amusement but also challenging the ludicrousness of mind that has attuned itself to the way society wants. Hess has argued that these ulatbamsi's cannot have one meaning and therefore depends on how one reads them. She further adds that these poems have something very simple and that relates to the experience of an individual. Therefore one can argue that the hidden message of these ulatbamsi poems is to challenge the set modes of thinking which has created rigid boundaries and that there should be fluidity in one's thought process. As rightly pointed out, by Eliade "The semantic polyvalence of words finally substitutes ambiguity for the usual system of references inherent in ordinary language. And this destruction of language contributes, in its way too, towards "breaking" the profane universe and replacing it by universe of convertible and integrable planes".⁵⁷ Therefore Kabir through his poetry was trying to envisage a new world where older forms of thinking and way of living was being challenged and this he was trying to achieve through the style of his poetry which encapsulated ontological questions and vociferous rejections of

⁵⁵ Dwivedi, *Kabir*, pp. 36-45.

⁵⁶ Linda Hess, "The cow is sucking at the calf's teat: Kabir's upside-down language", *History of Religions*, Vol. 22, Issue No. 4, (1983): pp- 313-337.

⁵⁷Hess, "The cow is sucking at the calf's teat: Kabir's upside-down language", p.337.

the set standards of the society, regulating our everyday lives thereby carving out an individual space for a being.

Conclusion

In this paper I began by arguing a case for critical individual that one finds in Kabir's corpus by examining the available hagiographical accounts. Kabir's vehement criticism and rejection of the organized traditions and existing binaries of the society reflects the birth of the critical individual. The individual which was not only supposed to engage with the external structures critically, but also the structures within, that of the 'mana' and 'atma'. Here we can see Kabir making a difference in the way society perceived individual as formed by the multiple layers of caste, religion, gender and class, in opposition to the critical one which was not submissive to the hierarchies but challenged and tried to reform them. ●



मैं कहता आँखिन देखी

Kabir and Ambedkar on Religious Traditions: Critiques and Reconstructions

● Dr. Amita Valmiki



मैं कहता आँखिन देखी

“
प्रेम गली अति सांकरी
या मे दुइ न समाय।
जब मैं था तब हरि नहीं
अब हरि है मैं नाय।।”

*The images are all lifeless, they cannot speak:
I know, for I have cried aloud to them.
The Puranas and the Koran are mere words:
Lifting up the curtain, I have seen.*

—Kabir¹

*I like the religion that teaches liberty, equality
and fraternity.*

—B. R. Ambedkar²

Once you label me you negate me.

—Soren Kierkegaard³

The quotes reveal that all three thinkers champion deconstruction of organized religion. But this is also followed by reconstruction. Sant Kabir (a 15th century mystic-poet from Benares), Soren

Kierkegaard (b. 1813, d. 1855), a Danish 19th century (theistic) existentialist and Bhimrao Ramji Ambedkar (b. 1891, d. 1956) found that prevailing religious formalism is both structurally and ontologically inappropriate for humanity. A drastic metamorphosis seemed to be mandatory in their times; and equally true in contemporary religious architecture. They belong to different epochs and different cultures, but one sees an overlap in their philosophies of religion: they think beyond its fanatical avatars to advocate an emancipatory relationship with religion based on choice.

Kabir (c. b.1440, c. d. 1518), a great mystic, spoke about of the only 'Real', the 'Truth' (the 'God'). For him, rituals, practices of different religions had no use 'if the purpose of mental one-pointed concentration on God was forgotten'. The history, though not known very precisely, says that Kabir was born in a family of Mohammedan weavers or brought up in a family of Mohammedan weavers who were most probably recent converts from the prevalent faith of the common people in which Gorakhanath was held in great reverence, and, therefore they worshipped both, Allah and Ram. (There is difference of opinion among scholars regarding the historical data as Hindus called him Kabir Das while the Muslims believed he was a Sufi; anyways, as the name Kabir comes from the Arabic, Persian, Turkish, Urdu, etc. meaning 'the Great', (the 'Big', the 'Majestic'), the 37th name of God in Islam).⁴ Kabir disliked the bigotry and superstitions of all formal religions, as he was under the influence of both bhakti of Vaisnavism and Sufism. His writing was completely devotional, and he baptized his Lord as 'Allah-Ram'. As a result of this, however, he was persecuted by both the Hindus and the Mohmmedans. As noted by Dasgupta, "With him (Kabir) and his followers, such as Ruidas and Dadu, we find a religion which shook off all the traditional limitations of formal religions, with their belief in revealed books and their acceptance of mythological stories, and dogmas and



मैं कहता आँखिन देखी

creeds that often obscure the purity of the religious light....When Kabir's parents found that they could not subdue his Hindu tendencies they wanted to circumcise him, and at this he said:

'Whence have come the Hindus and Mussulmans? Who hath put them in their different ways?

Having thought and reflected in thy heart, answer this - who shall obtain Heaven and who Hell.'

(From Bijak).⁵

Kabir forewarned people about the stratification found in society in name of religion, caste, race and gender too (though we find contradictory verses in his poems regarding gender and feminism).⁶ In fact Kabir looked forward to democratize religion. Kabir was a mystic because of his non-dualistic approach towards the Real that makes his path more humane. Kabir spoke of 'subjective inwardness' that was elaborated by his predecessors and popularized further by Kabir. We find that the harbinger of Kabir were adherent of midsection path—the *Sagunis* where Brahman is qualified and *Nirgunis*, the unqualified Brahman. Kabir epitomizes the *Nirgunis* so that momentous or consequential aspect surmises into casteless society, pure monism, imbibing all-love for God and with work ethic and dignity of labour a resigned and quietist life of harmony and peace in society. Kabir said, "I searched for God for years and years and I could not find him. Then I dropped the whole idea and I became still and loving.—Now I know the way—it is not in formalities, but in an informal friendliness with the existence."⁷

Kabir believed in complete solidarity and was unconditionally against caste system and any kind of social hierarchy. Kabir says (*Kabir Granthavali* 179),

*"Were the Creator,
Concerned about caste,
we'd arrive in the world
With a caste mark on the forehead."*



मैं कहता आँखिन देखी

Kabir was disliked by orthodox Brahmins who heaped him with casteist slurs such as 'mleccha' (out caste). The mullahs labeled him as *Kafir* (infidel) since Kabir spoke of his Lord as 'Ram-Allah' (or Allah-Ram). This is because they speculated on their own respective Gods with particular limits. Probably reasoning and doctrines do not allow one to transgress one's limited boundaries and Kabir was exactly opposed to this.

Kabir's approach is quite similar to existentialists such as Kierkegaard and Jaspers who redefined religion. Kabir was a mystic; ('theistic mysticism' is dependent upon mystic's intuitions, insight or is claimed that he has a direct intuitive perception of God; it is 'super sense-perceptual experience; and Existentialism is "the philosophical theory which holds that a further set of categories, governed by the norm of *authenticity*, is necessary to grasp human existence. To approach existentialism in this categorical way may seem to conceal what is often taken to be its "heart" (Kaufmann 1968: 12), namely, its character as a gesture of protest against academic philosophy, its anti-system sensibility, its flight from the "iron cage" of reason."⁸

Both the approaches (the mystic's and existentialists') belittled the importance of reason. Also that everybody had the chance or rather have 'choice to become'. The medieval period mystic/saints in India believed that becoming is realizing the Truth that is One, while existentialists concentrated just on the universal concept of 'becoming'. (The term 'universal' is not in the paradigmatic form but has to be taken as 'access to all', especially 'the others'.) Though the joy is immense for the mystics, the existentialists may say that it may follow or may not in the 'process of becoming'. Again both have emphasized on the concept of 'hope' for all to 'become', but the 'essence' for Kabir, or say for any theistic mystic is 'God', while Kierkegaard, or say any existentialist—there is 'denial of essence'. Well, these



मैं कहता आँखिन देखी

differences are found, but, in fact my point is not that how do they expound the 'philosophy of becoming', the point is that they have an open approach, this joy of exercising freedom of choice or dread of it is not consequential, but enjoying dread of exercising freedom—for all is too secular approach where all differences are given up.

Kabir says (in *Bijak*) 'You and I are of one blood; one life exists in us both. From one mother the world is born, what then is this sense of separateness? We have all come from the same country; we all drink from the same fountain; yet the ignorant divide us into innumerable sects.'⁹

Speculative philosophies may differ in their approaches as well as in conclusions. This is avoided by mystics. The mystic's vision is the experience of 'identity'. This is clearly reflected in Kabir's philosophy. The mystics and their experiences of unity are entirely independent of advancements in learning or civilization. Therefore amelioration of science or stratification found in society in the name of religion, caste, race, and gender has no significance for the mystics. Mystical experience is the experience of that single authorship, a provenience that which a universal substratum of all that existed, exists and will be existing. (This is more of a theistic mysticism.) Such experience is the cognition through revelation; an ecstatic experience, a sort of *déjà vu* and is comprehensively noetic in nature. It is a cosmic consciousness; and this experience is transient and ethereal.¹⁰ As such mystical experience has existed uninterrupted aeons ago. Those who have had the mystical experience transcend all the distinctions that human beings are entangled. "Mysticism, therefore, is an idealist point of view which asserts the possibility of the direct apperception of the ultimate reality in a rare, profound, and purely introspective experience, wherein an extraordinarily intimate knowledge of the noumenal Source and the nature of the universe and human existence is acquired."¹¹ Indeed we have



मैं कहता आँखिन देखी

ignored and overlooked this aspect.

At this juncture, it is potent to raise a question, is there any resemblance between the mystical philosophy of Kabir and (theistic) existential philosophy of Kierkegaard to B. R. Ambedkar's philosophy? Reading through Ambedkar's literature I found he is very analogous to Kabir, as well as, Kierkegaard.

Ambedkar says, "Religion must mainly be a matter of principles only. It cannot be a matter of rules. The moment it degenerates into rules, it ceases to be a religion, as it kills responsibility which is an essence of the true religious act."¹² From the quote it has to be introspected as to was Ambedkar totally anti-religion or atheist or non-believer? The question is intriguing and discloses the layers of Ambedkar's thoughts on religion per se; and that is the requirement of the time. The above quote reveals Ambedkar's take on orthodox religion that is inclined towards dogma and blind faith.

Ambedkar had impressive and intense views on religion, specifically *Brahmanical Hinduism*. Ambedkar writes, "What is called Religion by the Hindus is nothing but a multitude of commands and prohibitions."¹³ He could never affiliate himself with the religion of the popular masses of India as it abandoned him and the underprivileged castes (especially when caste system is called as *varna* system in pliable and tolerable terminology).

Though Ambedkar remained Hindu larger part of his life, he could never ever associate himself with Hinduism. Therefore religion was out of his prelude. Ambedkar propagated egalitarian and nondiscriminatory approach. Therefore he gave us a personal and a uniform code.

There is a discernible parallel that can be drawn between Antonio Francesco Gramsci (b. 1891, d. 1937), an Italian Neo-Marxist and Ambedkar's thoughts principally and exclusively when the term secularism is introspected upon. Both came from the distressed and persecuted marginalized cluster. Therefore the



मैं कहता आँखिन देखी

pangs of obliteration and barbarity where felt equally. Gramsci was bent toward establishing equality by 'intellectual and moral reform' and Ambedkar by 'social and moral consciousness of society.'¹⁴ Gramsci says, "The crisis consists precisely in the fact that the old is dying and the new cannot be born; in the interregnum a great variety of morbid symptoms appear."¹⁵ Both the iconoclasts were from the scratch aware of the problems and complications faced by these oppressed groups. The master-slave issue was and is common everywhere and this disparity in any scheme need to be annulled. Both Gramsci and Ambedkar were anta towards religion and were motivated by Marxist principles, though "considered religion culturally and politically relevant; both assessed the presence of subalterns through social, cultural and historical analysis, and sought to negotiate a rightful place within the state, society and history/ historiography for these 'excluded' individuals."¹⁶



मैं कहता आँखिन देखी

Given that Ambedkar shares so much with a Marxist thinker (despite his text "*Buddha or Karl Marx*" where he is critical of Marxism) religion should have been a secondary idea for him. However, he did not think given the unique Indian position on religion.

The question is though Ambedkar appears to 'oppose' religion, why was he, to certain extent 'for' religion? Religion is for Ambedkar a form of adhesive that ties the populace and to bring about social revolution by enforcing laws, structuring political strategies and bringing economic reconstruction, for this religion is indispensable; otherwise these would lose its essence and renovation if not subordinated by a common substratum (called religion). Religion is utilized in form of a binding factor and therefore religion plays a pivotal role in social, economic and political life of people in any nation. Therefore religion is essential but it needs to have a scientific and rational/ logical basis. So, Ambedkar says, "Religion, if it is to survive, it must be in consonance with reason, which is another name for science."¹⁷ This requires education,

a vital factor to advocate rational and dialectic reflection that will reinforce the virtues of equality and justice. But the formal, conservative and authoritative religion not only lack this but promotes the orthodoxy further, that too not for some years, but for eternity.

Education understood from Kabir's point of view, it is discernible to see that though Kabir was illiterate but used to recite his poems to his disciples in the language of people for he must be aware that the regional languages bring the basic nuances of virtues that need to be practiced in life. His poems are in Hindi, Avadhi, Braj Bhojpuri, Rajasthani, Punjabi etc. (especially his *Sakhis* meaning *Sakshi* in Hindi, that is 'witness'.); and since Kabir poems are composed in many dialects and languages, often his work is known in Hindi (literature) as *Panchmail Khichari* (mixture of many languages) or *Sadhukkadi* (a regional dialect spoken in the North India, especially Hindi speaking regions).¹⁸ This shows how Kabir transcended the linguistic barrier that opened up vistas of spiritual pursuits for all, especially for the subalterns. Mystics like Kabir and many others in his time popularized vernaculars and disseminated the importance of regional languages. This was an accost and a challenge to the language of the scriptures, and that was Sanskrit, which was considered as the exclusive scared language.

In cognizance with enhancing the importance of regional languages, Kabir at the same time spoke with lot of veneration for Gurus (teachers) and wrote in one of his couplets (*dohas*),

*Guru Govind dohu kharde
Kin ke lagoon paaye
Balihari Gurudev ki
Govind diyo bataye.*

*(As God and Guru both stand before me
At whose feet should I fall?
I choose the Guru
Because he has led me to God.)¹⁹*



मैं कहता आँखिन देखी

Therefore in Kabir one can notice a complete metamorphosis of formalistic religion and this brought about a social revolution in his time. There was an urgent need to change the presumed thoughts in matter of religion. This needed to be reassessed and revitalized.

Similar pattern of thought is seen in Kierkegaard; for "Kierkegaard Christian faith is not a matter of blindly following church dogma. It is a matter of individual subjective passion, which cannot be mediated by the clergy or by human artefacts."²⁰ The point to be noted that Existentialism, especially considering theological or theistic existentialism that was initiated by Kierkegaard, was a movement against the logic of 'pure Being'; they were not against logic of a 'thinking being', but logic of deduction and of verbal formula. Therefore Existentialism is defined as 'a philosophy that emphasizes the uniqueness and isolation of the individual experience in a hostile or indifferent universe, regards human existence as unexplainable, and stressed freedom of choice and responsibility for the consequences of one's acts.'²¹ Especially Kierkegaard was of the opinion that neither 'thought' nor imagination is superior when confronted with each other; in fact they stand on equal pedestal. We need to unify them in simultaneity and the realm of their unification is 'existence'. Kierkegaard was haunted with reflective philosophy and religion (indeed in his case it was Christianity) and the ecclesiastics were trying to establish the authority of religious dogma by providing psychological and social resolutions. This did not appeal to Kierkegaard. Keeping with Kierkegaardian approach to orthodox religion, his antagonism to it, one can distinctly notice that both Kabir and Ambedkar too endorsed the same view. Kabir could not sanction the bisecting forces of religion that discriminates individual from another individual especially in the name of caste. And the aforementioned ideology is unmistakably perceived in Ambedkar's thought. Ambedkar says, "Hindus must



मैं कहता आँखिन देखी

consider whether the time has come for them to recognize that there is nothing fixed, nothing eternal...everything is changing, that change is the law of life for the individual as well as for society. In a changing society there must be a constant revolution of old values."²² And Kabir says,

*"The donkey is far better than Brahmin
Dog is better than other castes
The cock is better than the Mullah
They wake the people by their blasts."*²³

Therefore the message from these giants was very clear; one has to elevate oneself by knowledge, not of verbal jugglery, but knowledge of the existing being, to overthrow the bigotry and fanatic approach in matter of religion. In similar fashion one finds the same philosophical pattern in Ambedkar's thought process; and for Ambedkar it was Hinduism that upheld the *Code of Manu* as final, blindly enforcing on the marginalized castes. Ambedkar, like Gramsci could not accept this in any case. In this matter he was opposed to religion; but the religion that he felt was beyond all these orthodoxies and fanaticism was Buddhism. For Ambedkar's understanding of Buddhism was in relation to ethical religion where mores of kinship, nationalism and religion are comprehended, that too in 'oriental context'. But it should in no ways to be understood as patriotic or subordinate to *Brahmanical Hinduism*.

At this very juncture you find a striking similarity between Kabir and Ambedkar where the intermediary position is of theistic existentialism in a new garb. In fact Ambedkar's father Ramji Maloji Sakpal who was in British army, was a Kabir-panthi as we know; therefore it seems to be a platitude that Ambedkar was quite apprised of Kabir.²⁴ (For Kabir caste or religion did not matter. Therefore some untouchable families adopted Kabir Panth.) De facto his life was propelled by Buddha, Kabir and Mahatma Phule. Kabir was completely against the hypocrite and



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

formalized religion and this view was also endorsed by Ambedkar. Kabir voiced the discomfort and torment that wounded the subalterns; and promoted the virtues of compassion and foremost, the concept of 'love' (*dhai akshara premka*) leaving aside the malevolence with anyone. Kabir accentuated the concept of 'dignity of labour'. Indeed there is an apprehension that was Ambedkar aware of Kabir's philosophy, as there was no translation of any of Kabir's poems in Marathi. But it is most probable that Ambedkar must be acquainted by Kabir's poems translated in English by Rabindranath Tagore and published (by MacMillan, London) in 1915, known as *One Hundred Poems of Kabir*. Kabir was from a Julaha clan known to be untouchables in his time. By the time two powerful movements emerged those who could embrace the *shudras* and *ati-shudras*—one, *Bhakti of Vaishnavism* and *Shaktism*, and other, *Sufism of Islam*. Both the movements out rightly rejected the shackles of caste and the oppressive measures of the upper castes. But both the movements deferred from what they preached. The *mullahs* and *pundits* were authoritative and nobody could transgress their word that consisted of religious rites and ritual as compulsory; and *Vaishnavism* never gave up *varna* system; and the atrocities on the marginalized community continued. In fact Ramanand, believed to be Kabir's guru, used to convert the *chandals* (as in those days the untouchables) to the sect of *Vaishnavism* by not touching them but by whispering in their ears *Ram Ram*. India lived in a paradoxical world. The precepts were different from the practice. There was a need of a socio-political movement that was initiated and bastioned by Kabir. So one can say even to start with spiritual ascendance one needs to go through either bypassing the existing norms and orthodoxies (which was not possible in the existing societal structure with large populace following the traditional norms) or had to be a rebel to bring forth revolution. Kabir

bannered the revolutionary movement of mysticism and incorporated the *sant-parampara* rather the *bhakti-parampara* (though he is said to belong to *bhakti-parampara*). Under the veil it seems to be motivated completely by the social structure rather than religious one. In *bhakti-parampara* the dualism persists, but in *sant-parampara* the monistic concept dissolves all that is divided and assimilates all, especially 'the others'.

Then the question remains as to why Ambedkar did not adopt Kabir-panth, instead accepted Buddhism? Ananya Vajpeyi in her book *Righteous Republic* explicitly mentions that may be Buddha was much larger figure compared to Kabir who remained provincial among Hindi speaking regions. She notes that Kabir broke the tradition remaining a recluse; while Buddha was spatio-temporally present and revolted against the conventional religion. The universal appeal that Buddhism carried probably was lacking in 'relatively provincial Kabir-panth'.²⁵

Vajpayee may be right to an extent but then the bond between Ambedkar, Kierkegaard and Kabir opens up his relationship to mysticism and the so-called renunciation of Kabir. Kabir's renunciation like Kierkegaard's was directed to institutionalized religion and its failure to give freedom to human beings. Ambedkar too renounced institutionalized religion in this manner. Further Ambedkar also reveals the positive qualities of mysticism from Kabir and Kierkegaard. R. D. Ranade has mentioned the qualities of a mystic (a mystic's philosophy is universally applicable irrespective of any distinction, it is of the intellectual level, is emotive, is moral, and the personal aspect of mysticism is 'spiritual realization' that is intuitive²⁶), these attributes belong to all the three—Buddha, Kabir and Ambedkar. From Kierkegaardian point of view too they seem to be completely connected that draws Kabir and Ambedkar very close. Considering Kierkegaard's philosophy, it runs quite parallel to mystics'



मैं कहता आँखिन देखी

philosophy, those who have a strong hold on ethical tradition of religion. Kierkegaard passed through different experiential stages—the aesthetic stage, which holds perfectly good in second—ethical stage and religious stage which is the last one. So, existence, freedom and in particular, existing individual is prior to reasoning. Kierkegaard's approach, like a mystic, turns social. The approach therefore is against solipsism and violence. Therefore to achieve one's ultimate spiritual identity, according to Kierkegaard, the individual has to cultivate 'mores' like hope, patience, co-operation, excellence, compassion and love. From this angle one can very well equate Kabir and Ambedkar standing on the same pedestal to seek social justice through Buddhist virtues of love and compassion.



मैं कहता आँखिन देखी

Both Kabir and Ambedkar renounced the *varna* system in their articulation; Kabir by his poems and Ambedkar by his books, *Annihilation of Caste* (1936), *Castes in India: Their Mechanism, Genesis and Development* (1917), *Riddles in Hinduism* (published posthumously) and many other books. Therefore their approach and reach to the populace of the horrendous implications of religious dogmatism and caste structure was via their literature.

The legacy of existentialism of responsibility, freedom of choice and experiencing the joy (and dread) of 'becoming' turns out to be mystical, which is very clearly and distinctly seen in Kabir and Ambedkar. They both critiqued the orthodox religion and aspired for reconstruction of traditional oppressive religious norms to a moral and ethical religion; in Kabir, through his poems (in *Bijak*, *Adi Guru Granth* and *Kabir Granthavali*) and in Ambedkar's *Buddha and His Dhamma*. ●

References:

- ¹ Kabir; Tagore Rabindranath. (Translation). *Songs of Kabir*. The Floating Press, 2010, pp. 14-15
- ² Arora, N. D. and Awasthy, S. S. *Political Theory and Political Thought*. Har-Anand Publications, India, 2007, pp. 404
- ³ Franza, August. *The Kierkegaard Novel*. Xlibris Corporation, USA, 2012, pp. 209

⁴ Lafayette, Maximilien de. *The Origin of the Name of God and His True Identity*. Times Square Press, NY.

⁵ Dasgupta, S. N. *Hindu Mysticism*. Allied Publishers, New Delhi, 1926, pp. 157-158

⁶ As noted by Dhananjay Keer, "To the followers' of Kabir anybody who worshipped God belonged to God irrespective of caste and birth. So sincere and true was their belief that they sang with their master: *Jat pant puchhe nakoi, Hark o bhaje so harka hoil!*" (Keer, Dhananjay. *Dr. Ambedkar: Life and Mission*. Popular Prakashan, Mumbai, 1971, pp. 09)

⁷ Times of India (April 11, 2001).

⁸ Crowell, Steven. *Existentialism*. Stanford Encyclopedia of Philosophy, 2020.

⁹ Abhayananda, S. *History of Mysticism – The Unchanging Testament*. Atma Books, Olympia, W.A., 2012, pp. 339

¹⁰ James, William. *The Variety of Religious Experience: A Study in Human Nature*. Xist Publishing, Irvine, CA, 2015.

¹¹ Abhayananda, S. *The Divine Universe: An Alternative to the Scientific Worldview*. iUniverse, Bloomington, IN, 2008

¹² Ambedkar, B. R. *Annihilation of Caste*. Gautam Book Centre, Delhi, 2008 (First edition – 1936), pp. 57

¹³ Ambedkar, B. R. *Writings and Speeches*. Vol. 1. Education Department, Government of Maharashtra, 1979, pp. 75

¹⁴ Lowe, Lisa and Llyod, David. *The Politics of Culture in the Shadow of the Capital*. Duke University Press, US, 1997, pp. 01

¹⁵ Ibid. pp. 406

¹⁶ Ibid. pp. 01

¹⁷ Roy, Manabendra Nath. *The Radical Humanist*. Volume 64. Maniben Kara, India, 2000, pp. 34

¹⁸ Dev, Amiya and Das, Sisir Kumar. *Comparative Literature: Theory and Practice*. Indian Institute of Advanced Study in Association with Allied Publishers, New Delhi, pp. 110

¹⁹ King, Anna S. and Brockington, John. *The Intimate Other: Love Divine in Indic Religions*. Orient Longman, New Delhi, 2005, pp. 360

²⁰ McDonald, William. *Soren Kierkegaard*. Stanford Encyclopedia of Philosophy, 2017.

²¹ Webster's II New Riverside University Dictionary, 1988.

²² Rodrigues, Valerian. (Ed.) *The Essential Writings of B. R. Ambedkar*. Oxford University Press, NY, 2002, pp. 304

²³ Das, G. N. (Edited, Translated, Compiled). *Couplets from Kabir (Kabir Dohe)*. Motilal Barasidass, Delhi, 2001, pp. xxviii

²⁴ It was therefore, a big possibility that, "Everyone oppose to the caste loves Kabir's teachings because he repudiates the caste hierarchy and speaks for the down trodden. It was for this reason that thousands of soldiers of all castes from the Indian military used to join the Kabir Panth and sing Kabir's songs with great devotion." (Kumar, Raj. *Ambedkar and His Writings: A Look for the New Generation*. Kalpaz Publications, Delhi, 2008, pp. 28)

²⁵ Vajpayi, Ananya. *Righteous Republic: The Political Foundations of Modern India*. Harvard University Press, 2012.

²⁶ Ranade R. D. *Indian Mysticism in Maharashtra*. 1st Edition. Poona – 2. 1933.



मैं कहता आँखिन देखी

Kabir's Religion: Religion that Underlies All Religions

- Vasudev Manohar Athalye



मैं कहता आँखिन देखी

“माला फेरत जुग भया
गया न मन का फेर।
कर का मनका डारि के
मन का मनका फेर।।”

Abstract

This article seeks to study Kabir's views on religion in the context of the social, religious and political conditions of the contemporary age. Instead of focussing on Kabir's identity as an apostle of Hindu Muslim unity, a social and religious reformer, a Sufi saint, a voice of secularism, this article tries to understand the nature and practice of Kabir's views on religion. Kabir's remarks on religion of man are fundamentally of purely spiritual nature. His objective is to realize and achieve union with the highest truth, God. Kabir believed in one God who is without any form or attributes. He is omnipresent as well as transcendental. He is within and hence it is futile to search Him in temples and mosques or external

places through pilgrimages. Meditation, Love and detachment are the means to know him. The touch of his grace transforms total quality of living the earthly life and fills it with love and joy. Kabir's God is inseparable from Compassion and Love. Hence, love or devotion is the best way to attain Him.

This article takes a review of certain definitions of both Eastern and Western thinkers like dr. Radhakrishnan, Laxmanshastri Joshi, William James etc. The four aspects of the religion of Kabir have been elaborated in this article namely, a) Nature of God, Brahman or the Divine b) The pathway to God c) The transformation it brings d) True Master and true disciple or devotee.

Key words: Religion, Realization, Immanence, Transcendence, Devotion, Love, Monism, attributes and form of Divinity

"A truly religious person will be free from fear and hatred as it implies the complete transformation of an individual's nature. While the formal or scriptural aspects of religion—which are vulnerable to misinterpretations—may divide the world; the deeper spiritual side can only have a unifying effect."

Introduction

India was passing through a very crucial phase of history when Kabir was born. Around 14th and 15th century the Islamic invaders had established their rule in India. They were cruel tyrants and fanatical about their religion, the claimed version of Islam. Misusing their power, they destroyed the temples of Hindus and looted their wealth. Mohammed Tughlaq, Firoz Khan Tughlaq, Taimur ruled India with an iron fist and killed many innocents non-Muslims. Their successor from Lodhi dynasty were more fanatical in the matters of religion. The Muslim rulers became increasingly licentious and moral desolates. Hence, it was the period of tyranny, injustice, forced conversions and torture for Hindus. There was poverty, fear, lack of peace, and extreme frustration



मैं कहता आँखिन देखी

to add to the plight of the Hindu people. Consequently Hindus, being the vanquished, lost their vigour, confidence, self esteem and fell prey to despondency and utter frustration. Their faith in idolatry and polytheism was badly shaken and they turned to religion and more specifically to the piety of the Lord without attributes and form (*Nirguna*) by small degrees."

The social condition of the Hindus was sorrowful. Both the Hindus and Muslims were preoccupied with the pursuit of materiality and externality of institutional religion. The varnashrama system (division according to occupations and stages in life) became even more accentuated and it divided the society in various groups. The ideas of pure and profane, untouchability too helped the fragmentation process. A mass of illiterate and ignorant people was driven by the propaganda of religion based on false rituals, blind traditions and unnecessary externalities.¹¹ Every religion was divided into different branches. The followers of each religion considered their religion unique and superior to other religions and were intolerant towards them.

The casteism in Hinduism led the people of lower castes for social class upliftment to conversion to Islam as it was the religion of the rulers and comparatively less ritualistic. The other sects who opposed caste system like Buddhism and Jainism due to their decline and Nathpanth due to occultism remained beyond the reach of the laymen. Soon Islam too became corrupt and began to focusing on the externalities and rituals save the Sufi philosophers/ saints who did not approve of it.

As a response , a kind of religious renaissance took place. Reviving true spirituality, some saints sought to establish a common religion applicable to all, and led a campaign to oppose and remove all false rites, rituals and divisive measures like casteism and untouchability; and arouse revulsion against voluptuousness and excessive seeking after



मैं कहता आँखिन देखी

bodily pleasures.^{IV} It was at this juncture that Kabir was born and brought up. Therefore in his eclectic and egalitarian religion all these crosscurrents have happily dissolved.

Kabir's authority

Whether Kabir was born to the Mohammedan couple Neeru and Neema or they just found him and brought him up is not very clear. Since the couple was miserably poor, they initiated him into their own profession of weaving instead of sending him to school. The following couplet reflects his lack of formal education:

*I don't touch ink or paper
This hand never grasped a pen.
The greatness of four ages
Kabir tells with mouth alone. (111-112 sa. 187)*

Some scholars think that this sakhi needs to be taken metaphorically and not literally. Poet and Translator Mangesh Padgaonkar argues that Kabir says so to remove inferiority complex in the minds of his listeners, who were illiterate people of lower castes, about their lack of education and also to prove that even the illiterate can be eligible for self realization.^V

Parasnath Tiwari thinks that Kabir had basic knowledge of letters. He was well informed in religion and religious practices owing to his contacts with the wise and scholarly men. He knew the significant aspects of Ved, Upanishadas, Gita and Bhagvat. He had subtly studied the Nathpanth and their practices of Yog. He had thorough knowledge of his own Mohammedan religion. He used to acknowledge good things in the sects like Shaiv, Shakta and Jain. He had his own unique way of understanding and verifying everything he happened to know through reason and his own spiritual and intuitive experience. He would never accept anything bedazzled by the aura of authority it radiates. Mohansing Karki gives credit to his coming across men of learning of various religions, sects and schools and his being 'gifted with a sensitive ear, a



मैं कहता आँखिन देखी

retentive memory and a receptive mind'. He notes that Kabir travelled extensively in the Central and Northern India and considers it as a source of his 'knowledge, wisdom, experience and word power'.^{vi}

He spent the large part of his life in Banaras which was the centre of learning at that time. It was the chief religious place where especially the scholars and practitioners of different sects and disciplines in Hindu religion, the Buddhists, the Jains, and of course of Islam had come into frequent contact with each other. To name the various schools of thought of this kind were monism (*advaitavada*), dualism (*dvaitavada*), specialized monism, dualistic monism and the most powerful was the Bhakti cult which had come from the South and was popularized by Ramanand; Sufism, Nathpanth, ShaktaPanth, Vaishnavism, Shaivism and Veerashaivism. Kabir had an opportunity to meet and listen to these practitioners and leaders of these different sects and schools of thought. G.N.Das rightly comments that Kabir had the benefit of long association and communication with them (which) enriched his innate spiritual faculties.^{vii} As a result, an eclectic fusion of many religious and philosophical systems could be seen in Kabir's thoughts. Last but not the least, Kabir's authority pre-eminently comes from his own rigorous spiritual practice (*Sadhana*) and the mystical experiences of direct union with the God, the source of all knowledge. Hence, he had never become a follower of any particular sect or religion.



मैं कहता आँखिन देखी

Religion and its goal

It would be helpful to take into consideration certain definitions of the word 'Religion' by some Eastern as well western as scholars. The great Indian scholar Laxmanshastri Joshi in Vishwakosh describes religion as follows. "Religion is the worship or adoration of the divine power in order to attain good and

eliminate evil. This transcendental power i.e. the ultimate truth, governs nature and regulates life through immanence. The highest goal of human life is to attain the ultimate truth which once attained transforms all that is base, imperfect and flawed in human life into perfect and truly fruitful." Dr Sarvapalli Radhakrishnan says "Religion is not so much a revelation to be attained by us in faith as an effort to unveil the deepest layers of man's being and get into enduring contact with them..... All, however, are agreed in regarding salvation as the attainment of the true status of the individual (it is) 'the art of conscious self-discovery and contact with the divine.'^{ix} Mahatma Gandhi states, "By Religion, I do not mean formal religion or customary religion, but that religion which underlies all religions, which brings us face to face with our Maker."ⁱ

William James in his *The Varieties of Religious Experience* defines Religion as 'the feelings, acts, and experiences of individual men in their solitude, so far as they apprehend themselves to stand in relation to whatever they may consider the divine.'^x William James considers that our world gets its true meaning through its contact with the highest, ultimate truth. Hence establish contact with this ultimate power is the sole purpose of our life. He believes that the perfect contentment, vigour, courage and perseverance, calmness of mind, the strange feeling of the assurance of security and the mind filled with pure love for others are some of the discernible positive changes experienced by the seeker as the effects of this contact with the divine force. James' above conclusions are based on the personal experiences of sages, saints, apostles, mystical yogis, etc.ⁱⁱ

C.P.Tiele says, "The origin of religion consists in the fact that man has the Infinite within him..... whether he recognizes it or not." He further adds, ".... religion is, in truth, that pure and reverential disposition or frame of mind which we call piety..."



मैं कहता आँखिन देखी

the essence of religion itself, is adoration. In adoration are united those two phases of religion which are termed by the schools 'transcendent' and 'immanent' respectively, or which, in religious language, represent the believer as 'looking up to God as the Most High' and as 'feeling himself akin to God as his Father.' (348-49) Upton thinks "It is the felt relationship in which the finite self-consciousness stands to the immanent and universal ground of all being, which constitutes religion."^{xi}

The views of the eminent scholars of religion mentioned above unanimously state that the true religion is adoration or worship of the divine which is immanent as well as transcendent. The real goal of human life is to attain the highest Truth, i.e. the Divine. The actual contact with the divine transforms the devotee completely. These principles are drawn on the basis of the experiences of the realized persons all over the world. After the union with the true self, there is a sudden paradigm shift in one's perception not only of this material world but also of the whole creation including the animate and inanimate world.

Various studies according to their abilities and perceptions and wisdom about Kabir have shown Kabir as a Sufi saint, 'an apostle of Hindu Muslim unity', a religious reformer (in Hinduism or general), a true secular thinker and a social reformer. Kabir, no matter whether he is Hindu or Muslim, Brahmin or Juleha, as an enlightened realized saint has remained neglected in studies in languages other than Hindi. It is necessary to understand that Kabir's multiple identities based on religion, sect, caste, lineage of Gurus, his ideological and political position as a reformer, a secular thinker are the results of researches. The real enlightened Kabir was aloof from and much above them.

Realization is the process of dissolving all identities in public as well as private spheres as they indicate the working of ego. The quality of Kabir's



मैं कहता आँखिन देखी

realization and his self effacement is evident the following poem. Kabir says,

*I am neither pious nor ungodly, I live neither by
law nor by sense,
I am neither a speaker nor hearer, I am neither a
servant nor
master, I am neither bond nor free,
I am neither detached nor attached.
I am far from none: I am near to none.
I shall go neither to hell nor to heaven.
I do all works; yet I am apart from all works.
Few comprehend my meaning: he who can
comprehend it, he sits
unmoved.
Kabir seeks neither to establish nor to
destroy. (LXXIX)*

In fact, Kabir is the follower of the true religion which underlies all religions and his religion is the direct outcome of his own spiritual experiences. His religion is internal, interior, individualistic and universalistic. Dr. Radhakrishnan illustrates from the lives of Moses, Buddha, Jesus, Paul, Mohammed and Francis of Assisi and shows how they found the strength and assurance of the reality of God in solitude of their own respective places. He says, "The soul in solitude is the birth place of religion Everything that is great, new and creative in religion rises out of the unfathomable depths of the soul in the quiet of prayer, in the solitude of meditation."^{xii} This study, in the context of Kabir's experience of salvation, focuses on certain aspects of his religion viz. a) Nature of God, Brahman or the Divine b) The pathway to God c) The transformation it brings d) True Master and true disciple/devotee.

a) Nature of God, Brahman or the Divine

Kabir's Lord is 'one' who reveals Himself in 'many' forms. He is immanent as well as transcendent. Kabir describes his Supreme vision in following words:



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

*So from beyond the Infinite, the Infinite
comes; and from the
Infinite the finite extends.*

*The creature is in Brahma, and Brahma is in
the creature: they
are ever distinct, yet ever united.*

*He Himself is the tree, the seed, and the germ.
He Himself is the flower, the fruit, and the
shade.*

*He Himself is the sun, the light, and the
lighted.*

*He Himself is Brahma, creature, and Maya.
He Himself is the manifold form, the infinite
space;*

He is the breath, the word, and the meaning.

*He Himself is the limit and the limitless: and
beyond both the
limited and the limitless is He,.....*

.....

*Kabir is blest because he has this supreme
vision! (VII,06)*

Kabir describes Him as 'the pure being,' the immanent mind in Brahma and in the creature' and the mystical experience of seeing Him in the point between his eyebrows, the place of the *Adnya Chakra*, the third eye. This very consciousness of God pervading everywhere transforms the whole perception towards the world. He describes vividly his divine play of creation in highly paradoxical terms. The love form is his body but he is 'without form, without quality, without decay'. He is one but seen as many in the eyes of the creatures. The union with Him brings great joy. His presence everywhere removes fear, anxiety and what remains is joy.

*The body and the mind
cannot contain themselves,
when they are
touched by His great joy.*

*He is immersed in all consciousness,
all joys, and all sorrows;*

*He has no beginning and no end;
He holds all within His bliss. (xxvi , page 32)*

Therefore Kabir confidently argues the visible objects are not true as they hide the Truth in their form and this is unbelievable as it is invisible. This Presence felt everywhere transfers the devotion for Him to devotion, selfless love for the 'Invisible He' wrapped in all animate and inanimate forms. This is exactly what Swami Vivekanand means in his practice of 'Serving creatures as God'.

*That which you see is not:
and for that which is,
you have no words.
Unless you see, you believe not:
what is told you you cannot accept.
He who is discerning
knows by the word;
and the ignorant stands gaping.
(Xlix, page 55)*

When the Soul in one body sees all other forms not as bodies but as his own essence , the selfish love for one's own body expands limitlessly to encompass all other bodies. This experience breeds fearlessness, security and love. Hence the very attainment of God is in reality attainment of love; for He is Love. Kabir says ,

*"I have attained the unattainable, and my
heart is
coloured with the colour of love."(XLVIII,
1.107)*

b) The pathway to God

Kabir's path is the path of love. He declares his relationship thus:

*From the beginning until the ending of time,
there is love
between Thee and me;*

*And how shall such love be extinguished?
(Xxxiv, page 41)*



मैं कहता आँखिन देखी

This path of Love transforms his relationship with his work and the work becomes His work, the work for the Beloved. It is the 'I' and 'Me' which separate the doer from the rest of the world. The self love doesn't allow one to work with the true spirit of devotion, i.e. doing His work. This is how Sri Aurobindo states that the day to day work can be divinised.

So long as man clamours for the I and the Mine,

his works are as naught:

When all love of the I and the Mine is dead,
then

the work of the Lord is done.

For work has no other aim than the getting of knowledge:

When that comes, then work is put away.

(Vi, page 5)



मैं कहता आँखिन देखी

The contact with this world of senses from I consciousness corrupts Man. The pleasures in this world are like mirage as they let one indulge in outward form and forget the essence. Hence Kabir advises to be thirsty for the true nectar, i.e. love as many saints had done before. He describes the corrupting influence of the world and the worldly as follows:

not for a moment have you come face to face with the world:

You are weaving your bondage of falsehood, your words are full of deception:

With the load of desires which you hold on your head, how can you be light?"

Kabir says: "Keep within you truth, detachment, and love." (LXI, 65)

Kabir's truth is the Invisible in the visible form, detachment is detachment from the false i.e. the visible form and love is love for all- pervading essence, one and the same in all varied forms. Kabir guides as to where and how to find Him. He says declares, 'Know yourself then, O Kabir; For He is in

you from head to foot. Sing with gladness, and keep your seat unmoved within your heart.' (lxxviii page 83)

He doesn't believe the dictates of reason. He says, "They are blind who hope to see it by the light of reason, that reason which is the cause of separation." (XCVII, page 103)

Kabir insists on the path of devotion, of love, of self-sacrificing pure, selfless love. Kabir Says, *when love renounces all limits it reaches truth. (L, 56).*

Subtle is the path of love!

Therein there is no asking and no not-asking,

There one loses one's self at His feet,

.....

The lover is never slow in offering his head for his Lord's service.

Kabir declares the secret of this love. (lv, page 60)

It is subtle, the seeker loses himself at His feet, and there is 'no asking or not-asking' therein because the seeker knows that he is one with his beloved. The secret of this love is the readiness to offer one's head for his service. (LV, 60)

d) The transformation it brings

The greatest transformation it brings in life is the life full of love and renunciation. Love makes him to live a limitless life in this world because the limits are actually the results of one's own desires. Love, as the sense of fulfillment in turn stops one from demanding anything. He compares life full of love with lotus blooming in water but untouched by it, or the wife who burns herself sees others weep but doesn't grieve.. (XXIV, 31) Kabir gives eloquent expression to his experience of simple union as a result of living constantly in His presence. (*sahaj Samadhi*):

O sadhu! the simple union is the best.

Since the day when I met

with my Lord, there has been no end

to the sport of our love.



मैं कहता आँखिन देखी

*I shut not my eyes, I close not my ears,
 I do not mortify my body;
 I see with eyes open and smile,
 and behold His beauty everywhere:
 I utter His Name,
 And whatever I see, it reminds me of Him;
 whatever I do., it becomes His worship.
 The rising and the setting are
 one to me; all contradictions are solved.
 Wherever I go, I move round Him,
 All I achieve is His service:
 When I lie down, I lie prostrate at His feet.
 He is the only adorable one to me:
 I have none other.
 My tongue has left off impure words,
 it sings His glory day and night:
 (XLI, 48-49)*



मैं कहता आँखिन देखी

e) The true Master and the true disciple/devotee

Kabir's Religion is a conscious choice but one has to fulfil basic eligibility criteria to be the true seeker. Kabir says, "The devout seeker is he who mingles, in his heart the double currents of love and detachment" (XVII, 17) Kabir's truth seeker is like a warrior. His fight is very hard and wearisome. His fight is in the kingdom of purity, truth and contentment and is fought against the enemies like passion, anger, pride and greed. This battle-unlike the battle of a widow or a warrior- goes on day and night, ceaselessly till the end of life. (XXXVII, 44,45) The true seeker knows the vanity of search outside himself for God...

*He is dear to me indeed
 who can call back the wanderer to his
 home. In the home is the true union,
 In the home is enjoyment
 of life: why should I forsake my home
 and wander in the forest?
 If Brahma helps me to realize truth,
 verily I will find both*

*bondage and deliverance in home.
 He is dear to me indeed
 who has power to dive deep into Brahma;
 whose mind loses itself with ease
 in His contemplation.
 He is dear to me who knows Brahma,
 and can dwell on His supreme
 truth in meditation; and who can play
 The melody of the Infinite by uniting love
 and renunciation in life.
 Kabîr says: "The home is the abiding place;
 in the home is
 reality; the home helps to attain Him
 Who is real. So stay
 where you are, and all things
 shall come to you in time." (XL, 47)*

Kabir states certain characteristics of the real sadhu or the Guru. 1. He can reveal the form of the formless to the vision of the physical eyes. (gives direct experience and not hollow words) 2. He teaches the simple ways of attaining Him other than rites and ceremonies. 3. He does not make you close the doors, and hold the breath and renounce the world. 4. He teaches you to perceive the Supreme Spirit wherever the mind attaches itself. 5. He teaches you to be still in the midst of your activities. 6. Fearless, ever immersed in bliss, he remains in the state of union with the Lord amidst all enjoyments. (LVI, page 61)

*In addition to those mentioned above
 He who is meek and contented., he who has
 an equal vision, whose
 mind is filled with the fullness of acceptance
 and of rest;
 He who has seen Him and touched Him, he
 is freed from all fear
 and trouble.
 To him the perpetual thought of God is like
 sandal paste smeared
 on the body, to him nothing else is delight:*



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

His work and his rest are filled with music: he sheds abroad the radiance of love.

Kabir says: "Touch His feet, who is one and indivisible,

immutable and peaceful; who fills all vessels to the brim with

joy, and whose form is love." (LXX, 73)

For Kabir, Love and renunciation are two sides of the same coin and they are the sure mark of the wise. (XLIX, 55)

Kabir in very precise manner summarises his shows view of true religion in the following poem.

*If God be within the mosque,
then to whom does this world belong?*

If Ram be within the image

Which you find upon your pilgrimage,

then who is there to know

what happens without?

Hari is in the East: Allah is in the West.

Look within your

heart, for there you will find both

Karim and Ram;

*All the men and women of the world
are His living forms.*

Kabîr is the child of Allah and of Ram:

He is my Guru, He is my

Pir. (LXIX-72)

Kabir's was the most revolutionary voice of the age expressing most candidly and overtly his views on the corrupt religious scenario. He was the keen observer and the critic of the society he lived in. He attacked very vehemently and courageously on different wrong practices in society and religions. In his equal treatment to all none is favoured nor spared. Brahmins, Pundits (scholars on religion), Mulla, Kazi, the Muslim priests, Yogis, pilgrimmes, Idol worshippers, the ascetics, interpreters of scriptures all receive equal blows for their ill practices at the

hands of Kabir. Dr. Ashirbadilal Shrivastav in his Medieval Indian Culture (Shiva Lal Agarwala and Company, Agra 3 First edition 1964) aptly summarizes Kabir's contribution to his time:

Nevertheless, he became one of the greatest .saints and reformers of his time. His teachings were directed to the attainment of two main objects—inward spirituality to the exclusion of outward ritualism and the conciliation between Hinduism and Islam. He believed in one formless God, rejected both the Vedas and the Quran and the supremacy of the Brahmans and the mullas, preached against the meaningless formalities and rituals of Hinduism, and the equally meaningless rites and practices of Islam. He was an uncompromising opponent of caste and of image-worship. He was equally vehement against the Muslim form of prayer, the fasts of Ramzan, and the reverencing of tombs and graves. He emphasised the unity of God, and the path of love, devotion and bhakti. He believed that love of God and love of humanity were the fundamental basis of religion, and therefore, there was no religion without bhakti.^{xiii}

In the context of today's India and the world, what Rustom Bharucha in his essay 'The Question of Faith' underscores the need to return to Kabir. He says, "The basis for such a theory (secular theology) is less likely to be found in the existing political rhetoric of 'religious tolerance' than in the vision of saints like Kabir, Guru Nanak, and Chaitanya who, as Tagore understood as well, 'preached one God to all races in India' adapting different idioms of communication. Secularists have a lot to learn from the idioms of tolerance embedded in every religious faith".^{xiv}



मैं कहता आँखिन देखी

References:

Primary References:

- I. Tagore Rabindranath. *One Hundred Poems of Kabir*. Macmillan and Co. Limited (Indian Edition). St. Martin's Street, London.
- II. *Kabir. The Bijak*. Trans. by Linda Hess and Shukdeo Singh, Oxford University Press. 2002 P.p. 111-112, *sakhi*. 187

Secondary References:

- I. Kala Acharya. Edt. *Sharing Wisdom in Search of Inner and Outer Peace* Quo. Dr. S. Radhakrishnan page, Somaiya Publications Pvt. Ltd. Mumbai. p.226
- II. Dr. Trigunayat Govind. *Kabir Ki Vichardhara*. Sahitya Niketan. Kanpur. p.79
- III. Ibid. p.80
- IV. Ibid.
- V. Padagaonkar Mangesh. *Kabir*. Mauj Prakashan. 2014. P.p 12-14
- VI. Tiwari Parasnath. *Kabir*. Marathi trans. By Kamat Ashok. National Book Trust India. 1968. P. 34
- VII. Karki Mohan Singh. *Kabir: Selected Couplets from the Sakhi*. Trans. Motilal Banarasidass Publishers. Delhi. 2001 (first edition). p. xvi
- VIII. Das G.N. *Couplets from Kabir*. Motilal Banarasidass Publishers. Delhi. 1991 (First edition). 8th rept. (2011). p. xvii
- IX. Dr Radhakrishnan S. *Eastern Religions and Western Thoughts*. A Galaxy Book. Oxford University Press. New York. 1959, p. 21
- X. James William. *The Varieties of Religious Experience*. The Fontana Library. Great Briton. 1960. p.50
- XI. Leuba James H. *A Psychological Study of Religion: Its Origin, Function, and Future*. The Macmillan Company. New York. 1912. p. ((357))
- XII. Ibid. p. 53
- XIII. Dr. Shrivastav Ashirbadilal. *Medieval Indian Culture*. Shiva Lal Agarwala and Company. Agra. First edition. 1964. P.p. 46-47.
- XIV. Hawley John. *Three Bhakti Voices*. Quo. Rustom Bharucha. Oxford University Press. New Delhi. 2012. P. 321

Webiography:

- i. M. K. Gandhi. *My Religion*. https://www.mkgandhi.org/ebks/my_religion.pdf
- ii. Laxmanshastri Joshi. *Vishwakosh*. <https://vishwakosh.marathi.gov.in/20295/>



मैं कहता आँखिन देखी

Treatment of Mysticism in Kabir's Poetry

● Dr. A.P.Pandey

“
साई इतना दीजिए
जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूं
साधु न भूखा जाय।।”

Kabir is unanimously regarded as the most representative social reformer and saint poet of medieval India which was waylaid by unhealthy social and religious practices coming down the ages. Despite lack of formal education, Kabir had deeper insights and astounding communicative skills which qualify him to be designated as the poet laureate of the age. As a social reformer, he was moved to see the miserable plights of the masses and unending sufferings subjected to them. He, therefore, was determined to reform their conditions by creating awareness that what was being done to them needs to be addressed to restructure a society based on natural justice. Though this stand of Kabir did not suit to the existing ideologies of the age and invited much animosity from the established groups, he never hesitated in carrying out his crusade firmly believing that what he was doing was right being the dictate of his soul. He always believed in accepting the good practices but would not



मैं कहता आँखिन देखी

compromise if found unfavorable to peace and harmony of the society. Besides being a social reformer, Kabir was blessed with the essence of spirituality to perceive the things to be rightly called mysticism. It is, therefore, reasonable to reflect on the broader perspectives of mysticism to understand the essence of mystic experiences in his poetic expressions.

Mysticism derived from Greek word 'mystikos' means initiation. It is the pursuit of achieving communion or identity with, or conscious awareness of, ultimate reality/ the divine, spiritual truth, or God through direct experience, intuition or insight. Traditions may include a belief in literal existence of dimensional realities beyond empirical perception or a belief that a true human perception of the world transcends logical reasoning or intellectual comprehension. A person delving deep in these areas may be called a mystic. In many cases, the purpose of mysticism and mystical discipline such as meditation is to reach a state of return or re-integration to Godhead. A common theme of mysticism is that the mystic and all of reality are one. The purpose of mystical practice is to achieve that oneness in experience to transcend limited identity and re-identity with all that is. The state of oneness has many names depending on the mystical system: Illumination (Christianity), Irfan (Islam), Nirvan (Buddhism), Moksha (Jainism) Samadhi (Hinduism) to name a few.

The term mysticism is often used to refer to beliefs which go beyond the purely exoteric practices of the main stream religions, while still being related to or based in the main stream religious doctrine. For example, Kabbalah is a significant mystical movement with Judaism, and Sufism is a significant movement within Islam. Gnosticism refers to various mystical sects which arose out of Christianity. Non-traditional knowledge and rituals are considered as Esotericism, for example, Buddhism's Vajrayana.



मैं कहता आँखिन देखी

Vedanta, the Nathas (North India), the Natha (South India), the Siddhas and Nagas are considered the several mystical branches of the Hinduism. Mystical doctrine may refer to the religious texts that are non-canonical, as well as more main stream canon and generally require a more committed intellectual, psychological and physical approach from spiritual devotees. Most mystic teachers typically have some history or connection with a main stream religious branch-controversial or otherwise, but gather followers through interpreting sacred texts or developing new spiritual approaches from their own unique experience.

According to Evelyn Underhill there are five mystic ways through which mystic arrives at union with the absolute. First is the awakening stage in which one begins to have some consciousness of the absolute or divine reality. Second is the stage of purgation (of bodily desires) which is characterized by an awareness of one's own imperfections and finiteness. The third is the illumination (of the mind) which is reached by an artist, visionaries as well as being the final stage of some mystics. Fourth is "**called the dark night of the soul.**" Its experience by few is the stage of complete purification and marked by confusion, helplessness, stagnation of will and sense of withdrawal of God's presence. The final stage is the union with the object of love, the one reality.

As means to meet the divine, some mystics have taken recourse to fasting, breath control, meditation, ecstasy; simplification, autosuggestion, and monoideism (absorption in single idea). Mystical experience permits complementary and apparently contradictory methods of expression; via affirmative (affirmative way or fullness) as well as via negative (negative way or emptiness). It is said that: the emptier your mind, the more susceptible are you to the working of the presence. For fullness and freedom both are needed. In fact, the apparent negations-*neti neti* (nor this nor that) of the Upanishads, the



मैं कहता आँखिन देखी

shunyata (void) of the Buddhists, or of Darkness beyond Light of Dionysius perform a double function. They state a condition of being as well as its utter freedom from every determination. As Dionysius explains it 'While God possesses all the attributes of the universe, being the universal cause yet in a stricter sense He does not possess them since He transcends them all.' 'ency-790'. The 'negative way' a way of turning back upon the finite, is a part an old positive verified insight, at once the last freedom and, as far as many men are concerned, perhaps a lost freedom.

Mysticism has been accused of passing of psychological states for metaphysical statements. But the psychological base has never been questioned seriously. It would be, however, proper to call it autology (the science of self). The contrast between the old and the new has been well expressed by the Russian philosopher Peter Ouspensky:

Never in history has psychology stood at so low a level, lost all touch with its origin and meaning, perhaps the oldest science and, unfortunately, in its most essential features, a forgotten science, the science of his possible evolution.¹

Mysticism is a science in which psychology of man mingles with the psychology of God. The major orientation is from the level of the profane to the sacred, an awareness of the divine in man and outside. The source and goal of such a psychology was revealed in the 18th century Methodist leader John Wesley's words—"The best of all is this that God is with us"². A mark of the mystic life is the great access of energy and enlarged awareness, so much so that the man who obtains the vision becomes another being. Mansions of the mind, *maqam* (Arabic; place) and *bhumi* (Sanskrit: land) open up to the gaze of the initiate, a wayfarer of the worlds. This means a renewal or conversion until one knows that the earth alone is not man's teacher. The mystic



मैं कहता आँखिन देखी

begins to draw his sustenance from super sensuous source. He has "drunk the Infinite like a giant wine,"³ and a hidden bliss knowledge, and power begin to sweep through the gates of his senses.

The state of energizing is facilitated by controlled attention. It is customary to fix the mind on some object and idea, some focus of contemplation. According to the Indian formula, to worship God one must become like Him, (*devam bhutwa devam jayet*). Exercises, physical no less than mental, including methods of worship and prayer, have been devoted to this end until one becomes what one contemplates. The ranges and creative aspects of mind are part of the psychology of the mystic and one of the oldest traditions of mankind. The old Indian psychology divided consciousness into three main provinces: waking state (*jagrat*), dream state (*svapna*), and sleep state, and added a fourth called *turiya*, which is the consciousness of man's pure self-existence or being. The four fold scale represents the degrees of the ladder of being by which man climbs back to the source, the absolute divine. The change from *here* to *there* is not an uneventful process. There come dry periods of deviation, violent alteration and temptations. If there are raptures and blue heavens, where are python agonies and absolute abandonment's, howling deserts and "dark nights of soul" to go through.

The term or concept "Mysticism" is so wide and vast that it cannot be encompassed in a single definition. Mysticism and its related concepts which have been treated in literatures of the world can be understood to some extent on account of their association with our life. Since it is a thought and is a response to one's own personal inner voice and dictates of soul, it varies from person to person and thinker to thinker. However, all mystics try to associate the concept mysticism with soul's journey to God. Soul elevates itself to get reunited with the Supreme soul. The different assets and paraphernalia of



मैं कहता आँखिन देखी

mysticism are transcendentalism, romanticism, individualism and transmigration of soul.

In the 20th century, Mysticism as quest for a hidden truth or wisdom is experiencing a renewed interest and understanding similar to that which had marked its role in previous eras. Mysticism, also known as *Rahasyavad* in Indian languages, is said to have originated from a feeling of alienation and solitude where one can delve deep into the bottomless ocean of mind and transcend the reality. In simple words, it is a state of mind where one arrives at a mysterious thinking intuitively which otherwise would not be possible for anyone to experience such kind of enlightenment in routine situations. Mysticism is an experience that has a spiritual meaning which is neither apparent to the senses nor to the intellect. Ram Kumar Verma is a prominent Hindi poet and thinker states: "Mysticism is a reflection of that state of Jivatma in which it establishes its peaceful and immaculate relation with the divine and unique power."⁴



मैं कहता आँखिन देखी

In the light of above definition, nature and understanding about the term mysticism, let us now critically examine Kabir as a mystic poet. Though the nature and function of mysticism offered by different scholars does not have scientific justification, it, however, gives a kind of tentative way to proceed with for further observation. If one delves deep into the ocean of Kabir's poetry, one realizes that Kabir was in true sense of the term a great mystic poet. He was a unique blend of Hindu religious philosophy being the disciple of Ramanand and Islamic philosophy being born and brought up in a Muslim family, as well as his association with his contemporary philosopher and poet Shaikh Taki. His close experience from both the cults presented him an insight which he fully exploited in his poetry. Though mysticism is very interesting, its comprehensibility in its true form is misappropriating. The bond of *Jivatma* and *Paramatma* is so close that

difference between them ceases to exist. Shankaracharya's theory of *Adwaitvad* seems to have exercised strong influence on Kabir's mystic thought. Kabir believes that the ignorance of mind –*Maya*–does not allow the grand union of *Jivatma* and *Paramatma*. Once *Maya* which is a big barrier is dispelled by the light of knowledge, *Jivatma* and *Paramatma* will get inseparably assimilated with each other losing their independent identity. The same has been metaphorically presented by Kabir in his original couplet;

***Jal mein kumbh, kumbh mein jal hai, baahar bheeter paani,
Foota kumbh jal jalahi milanayah fathya kahaun giyaani.***

When in water the pitcher is dipped
In and out there is water
If pitcher breaks the waters mingle
To the wise the import is clear. ⁵

Here Kabir tends to say that as a pitcher dipped in water, breaks, the water in pitcher gets united with water in which it is dipped, similarly, when a soul of a man mingles with the Supreme soul, there is a complete union and both become indistinguishably one. Our body is like pitcher containing soul which when meets the mortal ends, soul proceeds towards its fountain, supreme soul which can only accommodate it.

Kabir's mysticism can broadly be divided into three heads: emotional mysticism, meditational mysticism, and nature related mysticism.

In **emotional meditation**, a close relationship between *Atma* and *Paramatma* is established on family terms. Mystic poets, therefore, consider *Atma* and *Paramatma* as wife and husband respectively, and also imagine them suffering the pangs of separation (*virah*). They look for experiencing transcendental pleasures being reunited. When *Atma* internalizes the virtues of *Paramatma* by meditation *sadhana*, it begins to long for the union and promotes its flight to attain of salvation, *moksha*. In the following line Kabir has presented himself as



मैं कहता आँखिन देखी

wife and Ram as her lover-*Hari mere peev main to Ram ki bahuriaa* (English- Ram is my husband, I his wife).

Kabir experiences excruciating pangs of separation from Lord and is rendered oblivion of everything but Him whom he wishes to imprison in his inner eyes. Kabir even can't think of life being isolated from his master. He expresses the sense of restlessness in the following couplet:

***Baasar sukh na raimi sukh, na such sapanehu manhi
Kabir bichhudya Ram sun, na sukh dhoop na chhanhi***

Ease neither at day nor at night
Even in dream there is no ease
Ram forsaken has ease neither
In shade nor in sun, says Kabir. ⁶

Kabir asserts that the Lord can be only realized through the rigorous course and continuous self-extinction. He says:

***Hansi hansī Kant na paaiyaa, jinni paayaa tin roy.
Jo hansī ke khele Hari mile, to kaun duheli hoy.***

One cannot smile and get the Lord
Only those who weep can get
If to smile he did respond
None would be Lord bereft. (**Couplets From Kabir**, p.105)

Kabir is sure that none has ever realized Lord simply by pleasant smile. Whoever has felt the proximity of lord must have done so through the tough course of sufferings and tears in eyes. Kabir has expressed this abstract notion about mysticism through literary devices of imagery, metaphors, symbols and other strategies as reflected in his couplet.

Meditational Mysticism: Kabir is of the opinion that meditation is one of the surest ways whereby union of *Atma* and *Parmatma* can be ensured. His poetry is teemed with references where God is sought to be realized by persistent and sustained *sadhana*. Since Kabir was a follower of *Nirgun* cult, *sadhana* was the only means to have graceful union with Almighty. In devotional meditation *Atma* tries to access the *Parmatma* by consistent and rigorous



मैं कहता आँखिन देखी

meditation. It is, therefore, also called yogic mysticism. Kabir has presented a beautiful picture of God based on his powerful imaginative faculty:

***Jaake muh maathaa nahin, nahin ruup kuruup.
Puhup baas se paatalaa, aisa tatwa anuup.***

God has neither mouth nor forehead,
Handsome or ugly He is not,
He's thinner than flower's fragrance,
Thus of unique essence He is wrought.
(Mohan Singh Karki, **Kabir**, P.70)

Kabir believes that *Atma* is a part of *Parmatma* and both of them are closely associated. He tries to explicate this theory based on the rock ground of knowledge. But sometimes his expressions seasoned with the flavour of devotion carry the note of contradictory and reversible implication generating a wide and vast world of wonders and charisma. In addition to this, he explains the union of *Atma* and *Parmatma* by strategically employing a number of symbols which further transports the readers to unique and wonderful realization. He emphasizes that it is the strong hold of the knowledge which controls our senses from being waylaid by the rolling splendors of the world. The Bhagavad-Gita also emphasizes the need to control the senses which proceed as barriers and do not let the union of *Atma* and *Parmatma* be possible. It has indoctrinated the philosophy of controlling our senses which obstruct the flow of our knowledge and clouds the minds with the fumes of ignorance.

***Tasmatwamindrinyaadau nashamyā bhāratarshbna.
Paapmaanam prajahi hyenam gyaan vigyaan
naashanam.***⁷

Lord Krishna says: Arjun you must first control your senses, and then kill this evil thing (desire) which obstructs the knowledge of *Nirgun Brahma* and *Sakar Brahma*.

Kabir's **Ulatvaasis** are superficially based on contradictory and quite uncompromising statements like those of metaphysical poets of English literature



मैं कहता आँखिन देखी

that are said to have used metaphysical conceits. To justify and understand metaphysical poetry, one is required to go in for enough of mental wrangling as it is not easy to comprehend the poetic implications carried through them. Similarly, the in-depth analysis and intellectual exercise justify the statement and the reader is enlightened that what has been said in the poems is fully agreeable.

***Samandar laagi aagi, nadiyaa jal koilaa bhayi
Dekhi Kabiraa jaagi, panchhi rushaa chadhi gayi***

The sea caught fires and all rivers
Were burnt and to charcoal reduced,
Kabir witnessed it full awake
(And saw) the fish up to move.

(Mohan Singh Karki, **Kabir**, P.27)

In this *ulatvasi* Kabir, tries to explain that man is full of passions and when they are burnt by the fire of knowledge, the soul is purged of and it then with pristine purity proceeds towards *Parmatma* which is its final destination. Here Kabir is seen at his best presenting the abstract notion of mysticism before a commonplace reader through the use of an imagery of "sea" studded in paradox as a figure of speech with contradictory note.

Nature Mysticism: Kabir experiences intuitively the presence of god in various manifestations of nature such as, sun, moon, stars, mountain, forest etc. In the following couplet, clouds raining have been treated as divine blessing which has soaked his body and soul and renders the land as lush of greenery.

***Kabira baadal prem ka, ham par barsya aai,
Antar bhigi atmaa, hari bhai banraai.***

Says Kabir, love-clouds have gathered
It is raining down on me,
My entire soul is soaked in it
All round there is greenery.

(**Couplets From Kabir**, p.20)

Kabir has been blessed with tremendous power of communication skills which he uses in explaining



मैं कहता आँखिन देखी

the abstract notion of mysticism to even a commonplace man by picking up the simple illustrations from nature. He says that God is present in us but we cannot see Him as fragrance though present in the flower cannot be seen until it is smelt. Similarly there is red colour in myrtle leaves but readily it is not seen as it is internalized in the leaves but can be seen only when the leaves are properly treated to extract the essence of colour from the leaves. Kabir means to say here that God is omnipresent but its realization can be made by *sadhana*, meditation and faith. The following couplets will highlight the mystic experience of Kabir which he gets from nature:

Puhup maahi jyuun baas basat hai, mukur maahi jas chhaai.

Taise hii hari basai, nirantar mere ghat maahi.

As the fragrance in the heart of flower
As reflection in a mirror
Like that is the lord staying always
In my mind's bower

(Couplets From Kabir, p.7)

English and American literatures have an over exuberance of nature mysticism, which can be seen in the poetic expression of Wordsworth, Emerson, Whitman and in the poems of Rabindranath Tagore. Wordsworth in his ***Immortality Ode*** has shown the transmigration of soul. Emerson's ***Walden*** offers a complete insight into the transcendental propensities of human being and nature. In the same order Whitman's contribution to mystic thought through his classic poem *Leaves of Grass* needs to be properly underlined and discussed. It is called a classic of American life and literature as it deals with superficial and spiritual aspect accounts of America. The notes of mysticism run through the poetry of Whitman and can be better seen in his most celebrated and classical poem called ***Songs of Myself***. In his boyhood he would often remain lying for hours



मैं कहता आँखिन देखी

together contemplating apple tree, the blossoms and the sky, and at moments he would have a mystic experience, when his soul would extend to embrace the entire universe. He would have a feeling of oneness with all created things and his soul would embrace with love even the smallest created things as well as the greatest and the perfect. This feeling of oneness, of identity with both the great and small, this sense of the essential divinity of all things accounts for the long catalogues that appear so frequently in his poetry. He gives expression to the mystic feeling of **oneness** in a number of sections of the **Song of Myself**. The following poem will exemplify and give an insight into his mystic experience with nature:



मैं कहता आँखिन देखी

I celebrate myself, and sing myself,
And what I assume you shall assume,
For every atom belonging to me as good belongs
to you.
I loafe and invite my soul,
I lean and loafe at my ease observing a spear of
summer grass.
My tongue, every atom of my blood, form'd from
this soil,
this air,
Born here of parents born here from parents the
same, and their parents the same,
I, now thirty-seven years old in perfect health begin,
Hoping to cease not till death.¹⁰

In this context, it will be pertinent to mention the Nobel Laureate of India, Rabindranath Tagore, who read Kabir exhaustively and translated his 100 poems with his own commentary and annotations. He seems to have been more influenced by Kabir's mystic elements, and translated preferably those poems which are teemed with the flavour of mysticism. Apart from his translation of few poems of Kabir, he is independently acknowledged as a mystic poet as reflected in his poems. His mysticism is neither a creed nor a philosophy; it is neither a theoretician's acrobatics nor is a priest preaching. It is a practical way, a result of what Tagore has

seen and realized of life, a record of his observations, a voice of his aspirations. According to J.H. Cousins "his religion is without the theology though not without personality; his philosophy is without argument, though not without rationale. The outstanding quality that shows in every line of his poetry is life."¹¹

The above discussions, thus, bring out the fact that Kabir's mysticism has originated from his deeper insights and practical experiences which he gained in long span of his life. This is the reason why he is able to present convincingly the abstract notion of atma and parmatma by simple illustrations derived from one's day to day life. A reader easily understands the concept of mysticism by dwelling upon and reflecting on the poems of Kabir based on happenings of simple things perceived in one's life. Kabir as a mystic poet is remembered across the globe by the simplicity of his expression and skills of presentation free from the aesthetic and literary nuances.

References:

- 1: *The New Encyclopedia Britannica, Marcopaedia Vol. 12*, William Burton, Publishers, 1943-1973, P. 791
- 2: *ibid*
- 3: *ibid*
- 4: Madanlal Sharma, *Kabirdas: Darshan, Bhakti aur Kavya*; Rajesh Prakashan, Krishnanagar, Delhi, 1990, p.39.
- 5: G.N.Das, *Couplets from Kabir (Kabir Dohe)*, Motilal Banarasidass Publishers, Private Limited, Delhi, 2001, p.117.
- 6: Mohan Singh Karki, *Kabir*, Motilal Banarasidass Publishers, Private Limited, Delhi, 2001, p.25.
- 7: *Srimadbhagvatgita*, Gita Press Gorakhpur, U.P., 2002 Chapter III, Shlok41, p.39,
- 8: Vinay Dharwadkar, *Kabir: The Weaver's Songs*, penguin Books, 2003, p.141
- 9: Jayshankar Prasad, *Kamayani*
- 10: Carl Bode, Leon Howard, Louis B. Wright (eds.); *The Last Part of the 19th Century*; Washington square Press, 1969; pp91-92
- 11: Quoted by K.N. Joshi and Shyamala Rao in *Studies in Indo- Anglian Literature*, p. 5



मैं कहता आँखिन देखी

रचनाकार

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिंदी साहित्य के मूर्धन्य आलोचक, इतिहासकार तथा सर्जक आचार्य द्विवेदी को पहचान मिली शांति निकेतन में गुरुदेव रवींद्र नाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन के सहज सान्निध्य में। भारतीय चिंतनधारा के मौलिक चिंतक एवं सर्जक आचार्य द्विवेदी ने मनुष्य केंद्रित चिंतन की नींव रखी।

प्रोफेसर रतनकुमार पांडेय

समकालीन हिंदी आलोचना के समर्थ हस्ताक्षर एवं उत्कृष्ट प्राध्यापक डॉ रतनकुमार पांडेय हिंदी विभाग मुंबई विश्वविद्यालय के पूर्व अध्यक्ष तथा राष्ट्रीय आलोचना त्रैमासिकी अनभै के संस्थापक संपादक हैं।



मैं कहता आँखिन देखी

डॉ चितरंजन मिश्र

दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर के हिंदी विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रोफेसर मिश्र आधुनिक हिंदी कविता के मौलिक आलोचक एवं चिंतक हैं। समाजवादी विचारधारा के प्रखर चिंतक मिश्र जी साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए जाने जाते हैं। समन्वयक, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

श्री कुमारपाल देसाई

गुजराती भाषा के सुप्रसिद्ध साहित्यकार है। जैन धर्म एवं गुजराती साहित्य पर देश विदेश में इनके व्याख्यानों का आयोजन होता रहता है। गुजराती भाषा के सुप्रसिद्ध साहित्यकार जयभिवसु के पुत्र है। गुजराती साहित्य परिषद के अमुख पद को भी सुशोभित किया है। हिंदी में भी दस पुस्तक प्रकाशित हुए है।

श्री शैलेश सिंह

कवि एवं समीक्षक,
मुंबई।

Divya Jyoti

divyajyoti1293@gmail.com

Divya Jyoti is currently a research scholar in Jawaharlal Nehru University pursuing PhD in political science.

Dr. A. P. Pandey

Former Head

English department

Expert in Mediaeval Bhakti literature: It's sociology and Philosophy.

Dr. Amita Valmiki is Associate Professor and Head, Department of Philosophy, Ramniranjan Jhunjhunwala College of Arts, Science and Commerce (Autonomous), Mumbai,

Vasudev Manohar Athalye is an Associate Professor and Head in the department of English at Gogate Joglekar College, Ratnagiri. He has a teaching experience of 23 years at UG and 14 years at PG level. He has published around 15 research papers. Poetry, saint poetry and spirituality are his major areas of interest.

Email:vmathalye2014@gmail.com



मैं कहता आँखिन देखी

Style Guide

Citation Style: Author-Date Referencing System of *The Chicago Manual of Style* (Chapter 15, 17th edition)

Authors should adopt the in-text parenthetical Author-Date citation system from Chapter 15 of the *Chicago Manual of Style* (17th edition).

Some examples are listed below

1) BOOKS

REFERENCE LIST ENTRY:

Book references should be listed at the end of the paper as "Works Cited" in alphabetical order.

Single Author

Carson, Rachel. 2002. *Silent Spring*. New York: HMH Books.

Dual Authors

Adorno, Theodor, and Max Horkheimer. 1997. *Dialectic of Enlightenment*. London: Verso.

Multiple Authors

Berkman, Alexander, Henry Bauer, and Carl Nold. 2011. *Prison Blossoms: Anarchist Voices from the American Past*. Cambridge: Harvard University Press.

Anthologies

Petra Ramet, Sabrina, ed. 1993. *Religious Policy in the Soviet Union*. New York: Cambridge University Press

IN-TEXT CITATION:

References to the specific pages of the books should be made in parenthesis within the text as follows:

(Carson 2002, 15)

(Adorno and Horkheimer 1997, 23)

(Berkman, Bauer, and Nold 2011, 100-102)

(Sabrina 1993, 122-135)

Please refer to 15.40-45 of *The Chicago Manual of Style* for further details.



मैं कहता आँखिन देखी

2) CHAPTERS FROM ANTHOLOGIES

REFERENCE LIST ENTRY:

Chapters should be listed in "Works Cited" in alphabetical order as follows:

Single Author

Dunstan, John. 1993. "Soviet schools, atheism and religion." In *Religious Policy in the Soviet Union*, edited by Sabrina Petra Ramet, 158–86. New York: Cambridge University Press

Multiple Authors

Kinlger, Samuel A., and Paul H. De Vries. 1993. "The Ten Commandments as values in Soviet people's consciousness." In *Religious Policy in the Soviet Union*, edited by Sabrina Petra Ramet, 187–205. New York: Cambridge University Press

IN-TEXT CITATION:

(Dunstan 1993, 158–86)

(Kinlger and De Vries 1993, 190)

Please see 15.36 and 15.42 of *The Chicago Manual of Style* for further details.

3) E-BOOK

REFERENCE LIST ENTRY:

List should follow alphabetical order. The URL or the name of the database should be included in the reference list. Titles of chapters can be used instead of page numbers.

Borel, Brooke. 2016. *The Chicago Guide to Fact-Checking*. Chicago: University of Chicago Press. ProQuest Ebrary.

Hodgkin, Thomas. 1897. *Theodoric the Goth: The Barbarian Champion of Civilisation*. New York: Knickerbocker Press. Project Gutenberg.

<http://www.gutenberg.org/files/20063/20063-h/20063-h.htm>

Maalouf, Amin. 1991. *The Gardens of Light*. Hachette Digital. Kindle.

IN-TEXT CITATION:

(Borel 2016, 92)

(Hodgkin 1897, chap. 7)

(Maalouf 1991, chap. 3)



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

4) JOURNAL ARTICLE

REFERENCE LIST ENTRY:

List should follow alphabetical order and mention the page range of the published article. The URL or name of the database should be included for online articles referenced.

Anheier, Helmut K., Jurgen Gerhards, and Frank P. Romo. 1995. "Forms of Capital and Social Structure in Cultural Fields: Examining Bourdieu's Social Topography." *American Journal of Sociology* 100, no. 4 (January): 859-903.

Ayers, Lewis. 2000. "John Caputo and the 'Faith' of Soft-Postmodernism." *Irish Theological Quarterly* 65, no. 1 (March): 13-31.

<https://doi.org/10.1177/002114000006500102>

Dawson, Doyne. 2002. "The Marriage of Marx and Darwin?" *History and Theory* 41, no. 1 (February): 43-59.

IN-TEXT CITATION:

Specific page numbers must be included for the parenthetical references within texts

(Anheier, Gerhards, and Romo 1995, 864)

(Ayers 2000, 25-31)

(Dawson 2002, 47-57)

For further details please see 15.46-49 of *The Chicago Manual of Style*.

5) NEWS OR MAGAZINE ARTICLE

REFERENCE LIST ENTRY:

List should follow alphabetical order and need not mention the page numbers or range. The URL or name of the database should be included for online articles referenced.

Hitchens, Christopher. 1996. "Steal This Article." *Vanity Fair*, May 13, 1996

<https://www.vanityfair.com/culture/1996/05/christopher-hitchens-plagiarism-musings>

Khan, Saeed. 2020. "1918 Spanish Flu cure ordered by doctors was contraindicated in Gandhiji's Principles". *Times of India*, April 14, 2020.

http://timesofindia.indiatimes.com/articleshow/75130706.cms?utm_source=contentofinte

rest&utm_medium=text&utm_campaign=cppst
Klein, Ezra. 2020. "Elizabeth Warren has a plan for this too."
Vox, April 6, 2020. [https://www.vox.com/policy-and-politics/
2020/4/6/21207338/elizabeth-warren-coronavirus-covid-
19-recession-depression-presidency-trump](https://www.vox.com/policy-and-politics/2020/4/6/21207338/elizabeth-warren-coronavirus-covid-19-recession-depression-presidency-trump).

IN-TEXT CITATION:
(Hitchens 1996)
(Khan 2020)
(Klein 2020)

See 15.49 (newspapers and magazines) and 15.51 (blogs)
in *The Chicago Manual of Style* for further details

6) BOOK REVIEW

REFERENCE LIST ENTRY:

Methven, Steven. 2019. "Parricide: On Irad Kimhi's Thinking and Being." Review of *Thinking and Being*, by Irad Kimhi. *The Point Magazine*, October 8, 2019

IN-TEXT CITATION:
(Methven 2019)

7) INTERVIEW

REFERENCE LIST ENTRY:

West, Cornel. 2019. "Cornel West on Bernie, Trump, and Racism." Interview by Mehdi Hassan. *Deconstructed*, The Intercept, March 7, 2019.

<https://theintercept.com/2019/03/07/cornel-west-on-bernie-trump-and-racism/>

IN-TEXT CITATION:
(West 2019)

8) THESIS AND DISSERTATION

REFERENCE LIST ENTRY:

Rustom, Mohammed. 2009. "Quranic Exegesis in Later Islamic Philosophy: Mulla Sadra's *Tafsir Surat al-Fatiha*." PhD diss., University of Toronto.

IN-TEXT CITATION:
(Rustom 2009, 68-85)



मैं कहता आँखिन देखी



मैं कहता आँखिन देखी

9) WEBSITE CONTENT

REFERENCE LIST ENTRY:

Website content can be restricted to in-text citation as follows: "As of May 1, 2017, Yale's home page listed . . .". But it can also be listed in the reference list alphabetically as follows. The date of access can be mentioned if the date of publication is not available.

Anthony Appiah, Kwame. 2014. "Is Religion Good or Bad?" Filmed May 2014 at TEDSalon, New York.

https://www.ted.com/talks/kwame_anthony_appiah_is_religion_good_or_bad_this_is_a_trick_question

Yale University. n.d. "About Yale: Yale Facts." Accessed May 1, 2017.

<https://www.yale.edu/about-yale/yale-facts>.

IN-TEXT CITATION:

(Anthony Appiah 2014)

(Yale University, n.d.)

For more examples, see 15.50–52 in *The Chicago Manual of Style*. For multimedia, including live performances, see 15.57.

9) SOCIAL MEDIA CONTENT

REFERENCE LIST ENTRY:

Social media content can be restricted to in-text citation without being mentioned in the reference list as follows:

Conan O'Brien's tweet was characteristically deadpan: "In honor of Earth Day, I'm recycling my tweets" (@ConanOBrien, April 22, 2015).

It could also be cited formally by being included in the reference list as follows:

Chicago Manual of Style. 2015. "Is the world ready for singular they? We thought so back in 1993." Facebook, April 17, 2015.

<https://www.facebook.com/ChicagoManual/posts/10152906193679151>.

Souza, Pete (@petesouza). 2016. "President Obama bids farewell to President Xi of China at the conclusion of the Nuclear Security Summit." Instagram photo, April 1, 2016. <https://www.instagram.com/p/BDrmfXTtNct/>.

IN-TEXT CITATION:
(Chicago Manual of Style 2015)
(Souza 2016)

9) PERSONAL COMMUNICATION

REFERENCE LIST ENTRY:

The expression "personal communication" covers email, phone text messages and social media (such as Facebook and WhatsApp) messages. These are typically cited in parenthetical in-text citation and are not mentioned in the reference list.

IN-TEXT CITATION:

(Sam Gomez, Facebook message to author, August 1, 2017)

Notes should be listed in end-notes, followed by a works cited column.



मैं कहता आँखिन देखी